राजनीतिक दल के कार्यक्रम और नीतियों को कार्यरूप देने का यत्न करते हैं। वे शासन में एक टीम के रूप में कार्य करते हैं।

3. प्रधानमंत्री का नेतृत्त्व : मंत्रिमंडल का नेता प्रधानमंत्री होता है। मंत्रिपरिषद का निर्माण उसी की इच्छा से होता है। प्राधानमंत्री कों किसी भी मंत्री से त्याग पत्र देने के लिए कहने का अधिकार है।

4. सामूहिक उत्तरदायित्व : मंत्रिमंडल के सदस्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से संसद से प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमंडल अपनी नीति के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है, किन्तु कभी कभी विभागीय मामलों में मंत्रिमंडल सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता और सम्बंधित मंत्री को उत्तरदायी ठहराता है। सामान्यत: अपनी नीतियों और राष्ट्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए वह सामूहिक उत्तरदायित्व स्वीकार करता है जिसका अर्थ यह होता है कि मंत्रिमंडल आलोचकों को उत्तर देने के लिए तत्पर रहता है और चाहे किसी मंत्रीं की आलोचना की जा रही हो, उसके सहयोगी उसकी रक्षा के लिए उद्धत होते हैं।

5. गोपनीयता : मंत्रिमंडल की कार्यवाहियों की गोपनीयता भी इस शासन प्रणाली की विशेषता है। भारत में गोपनीयता के इस सिद्धान्त के अनुसार अनुच्छेद 75 के अन्तर्गत पदग्रहण करने से पूर्व प्रत्येक मंत्री को गोपनीयता की शपथ लेनी होती है। संवैधानिक दृष्टि से प्रत्येक मंत्री इस बात के लिए बाध्य है कि वह मंत्रिमण्डल के किसी भेद को प्रकट नहीं करेगा।

6. विधायिका तथा कार्यपालिका का घनिष्ठ सम्बन्ध : मंत्रीमण्डल विधायिका के दोनों सदनों का प्रतिनिधित्व करता है तथा मंत्रिमण्डल के सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे संसद के किसी भी सदन के सदस्य हों। मंत्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन सदन मंत्रिमण्डल से मंत्रियों के विभाग के प्रशासन से बारे में प्रश्न पूछकर कर सकता है, मंत्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत बजट को स्वीकार कर सकता है, अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके मंत्रिमण्डल को हटा सकता है। मंत्रिमण्डल निम्न सदन को भंग करवा सकता है। लास्की मंत्रिमण्डल को संसद की स्थायी समिति कहता है। इस प्रकार मंत्रिमण्डलात्मक पद्धति के अन्तर्गत शासन की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक अभिन्न सूत्र में सम्बद्ध होती है।

11.3 सारांश

संसदात्मक व्यवस्था के अनुकूल भारत में संघीय कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति मंत्रिमण्डल में निहित है। भारतीय संविधान की धारा 75 के अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है एवं प्रधानमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है, यद्यपि स्तरीय है।

1. कैबिनेट स्तर
2. राज्यमंत्री और उपमंत्री

मंत्रिमण्डल के प्रमुख निम्नलिखित कार्य हांते हैं :

1. राष्ट्रीय नीति निर्धारण करना
2. राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियंत्रण

मंत्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य वित्तीय कार्य वैदेशिक संबंधों पर नियंत्रण एवं नियुक्ति संबंधी कार्य। मंत्री परिषद और मंत्रिमंडल में अंतर है।

मंत्रिमंडल मंत्रिपरिषद की अन्त: परिषद होता है। इसमें 50-60 सदस्य होते हैं। मंत्रिमंडल मंत्रिपरिषद का हृदय है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भारत में संसदात्मक व्यवस्था अपनाई गई है। किंतु व्यावहारिक स्तर पर स्थिति नितांत विपरीत है। संसद मंत्रिमंडल पर नियंत्रण नही रखती वरन् मंत्रिमंडल द्वारा नियंत्रित होती है। वर्त्तमान में स्थाई संसदीय समितियां हैं। राजनीतिक आर्थिक संसदीय मामलों की नियुक्ति समिति मंत्रिमंडल का पूरक नहीं, लेकिन मंत्रिमंडल

समिति अगर शक्तिशाली हुआ तो यह समिति काफी शक्तिशाली रूप से कार्य करती है।

11.4 कुंजी शब्द

1. सामूहिक उत्तरादायित्व
2. अंतरंग कैबिनेट
3. उत्तरदायी सरकार

11.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) टिपपणी दें

- मंत्रिपरिषद का निर्माण
- सामूहिक उत्तरदायित्व
- अंतरंग कैबिनेट

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

2. संघीय मंत्रिपरिषद के निर्माण, उसकी शक्तियां और कृत्यों का वर्णन करें।

   उत्तर- (11.0 -11.2.3)

11.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. भारतीय संविधान : पायली
2. संविधान की आत्मा : डॉ0 सुभाष कश्यप

❖❖❖

सर्वोच्च न्यायालय

पाठ संरचना

12.0 भूमिका
12.1 उद्देश्य
12.2 संगठन
12.2.1 क्षेत्राधिकार
12.2.2 स्वतन्त्रता
12.2.3 न्यायिक पुनर्विलोकन
12.24 न्यायिक सक्रियतावाद
12.3 सारांश
12.4 कुंजी शब्द,
12.5 अभ्यास हेतु प्रश्न
12.6 ग्रन्थ सूची
अनुच्छेद 124–151

12.0 भूमिका

स्वतन्त्र और सभ्य राज्य की प्रथम पहचान स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका है। कोई भी समाज बिना विधानमंडल के रह सकता है, किन्तु ऐसे किसी सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो।

भारतीय संविधान निर्माता एक ऐसा अखिल भारतीय सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय बनाने के लिए कृतसंकल्प थे जिसे फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त हों। सर्वोच्च न्यायालय इसी संकल्प की पूर्ति करता है। हमारी न्याय व्यवस्था के शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय हैं जो भारत के मुख्य न्यायधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। उसका क्षेत्राधिकार अत्यन्त व्यापक है। वह अभिलेख न्यायालय और उसके क्षेत्राधिकार में प्रारंम्भिक अपीलीय और परामर्शीय सभी प्रकार के मामले आ जाते हैं। वस्तुतः भारत में संविधान और लोकतन्त्र

की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय का ही है। स्वाधीन भारत में सर्वोच्च न्यायालय का कार्यक्रम बहुत गौरवमय रहा है तथा आम जनता में व्यक्ति के सांविधानिक अधिकारों तथा स्वाधीनता के प्रहरी के रूप में उसके प्रति अटूट श्रद्धा और सम्मान है।

12.1 उद्देश्य

वस्तुत: लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की दृष्टि से हमारे देश में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता निम्न कारणों से महसूस की गई।

1. संघात्मक शासन व्यवस्था के कारण : जी0 एन0 जोशी के अनुसार, संघात्मक शासन में कई सरकारों का समन्वय होने के कारण संघर्ष अवश्यम्भावी है। अत: संघीय नीति का यह आवश्यक गुण है कि देश में ऐसी न्यायिक संस्था हो जो संघीय कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका तथा इकाइयों की सरकारों से स्वतन्त्र हो। शासकीय सत्ता का केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों के मध्य विभाजन संघीय संविधान की विशेषता है। किसी भी शक्ति विभाजन की प्रक्रिया में क्षेत्राधिकार के प्रश्न को लेकर संघ तथा राज्यों में वाद विवाद पैदा होना स्वाभाविक है। शक्ति विभाजन संविधान के अनुसार होते हैं इसलिए इन सभी विवादों का निर्णय एक संविधान में अंकित व्यवस्था के अनुसार ही होना चाहिए। न्याय की यह मांग है कि ऐसे सभी विवादों का निर्णय एक निष्पक्ष एवं सवतन्त्र प्राधिकारी के द्वारा किया जाय। संधीय संविधान के सर्वोच्च न्यायालय संघीय शासन प्रणली का अनिवार्य अंग है। यह संविधान की व्याख्या करने वाला उच्चतम प्राधिकारी है, साथ ही यह केन्द्र तथा राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करने वाला अन्तिम अधिकरण है।

2. संविधान की व्याख्या का कार्य : सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक संविधान के आधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। संविधान निर्मात्री सभा में कहा गया था, यह संविधान का व्याख्याकार और संरक्षक होगा। भारतीय संविधान की भावना की आधिकारिक व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही की जायेगी।

3. शासन का सन्तुलन चक : सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एक सन्तुलन चक्र के समान है क्योंकि जहाँ शासन के अन्य अंग जंनता की उत्तेजित भावना से प्रभावित हो सकते हैं वहां सर्वोच्च न्यायालय शासन का एक अन्य अंग है जो निष्पक्षतापूर्वक सरकार के कार्यो की व्याख्या संविधान के अनुसार करके सरकार के विभिन्न अंगों में सन्तुलन स्थापित कर सकता है।

4. मौलिक अधिकारों का रक्षक : संविधान निर्माताओं का कथन था कि ''सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक होगा।'' संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत यह न्यायालय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। संधीय अथवा राज्यों की सरकारों द्वारा इन अधिकारों का अतिक्रमण रोकना तथा अतिक्रमण होने पर उपचार करना इस न्यायालय का कर्त्तव्य है। पायली के अनुसार, '' इन अधिकारों का महत्त्व एवं सत्ता समय समय पर न्यायालय द्वारा दिये गए विनिर्णयों से घोषित होती है जिससे कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता तथा विधानमंडल की असंवैधानिकता से नागरिकों की रक्षा होती है।''

5. विशिष्ट परामर्श देने के लिए : गम्भीर तथा पेचीदा कानूनी उलझनों पर सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य भी करता है। सार्वजनिक महत्व के जिन कानूनों तथा तथ्यों के विषयों के विषय में राष्ट्रपति इस न्यायालय के विचार जानना चाहते हैं, उन विषयों में यह राष्ट्रपति को परामर्श देता है।

6. सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत : भारत में सर्वोच्च न्यायालय न केवल लोकतन्त्र का प्रहरी है अपितु संवैधानिक और साधारण कानूनों की प्रगतिवादी व्याख्या करके सामाजिक और आर्थिक परिवर्त्तन का अग्रदूत भी है।

12.2 संगठन

मूल रूप से सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा 7 अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी थी और संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या, सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों का वेतन और सेवा शर्त निश्चितं करने का अधिकार संसद को दियां गया है। संसद के द्वारा समय समय पर कानून में संशोधन कर सर्वोच्च न्यायालय कें न्यायाधीशों क़ी संख्या में वृद्धि की गयी है। 1989 में विधि द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित 26 न्यायाधीशं होंगे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करने में राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश से अवशय ही परामर्श लेता है। विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर भारत का मुख्य न्यायाधीश भारत के राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है। इस प्रकार की तदर्थ नियुक्तियां करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश को उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से सलाह लेनी होगी जिसमें से न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाय। भारत में तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कनाडा में प्रचलित ऐसी ही प्रथा के समान हैं। सर्वोच्च या संघीय न्यायालय के पदनिवृत्त न्यायाधीश को राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान लागू किये जाने के समय से लेकर 1972 ई तक यह परम्परा चली आ रही थी कि मुख्य न्यायाधीश के सेवानिवृत्त होने के बाद उसके स्थान पर दूसरे मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा सेवानिवृत होने वाले मुख्य न्यायाधीश से परामर्श अवश्य ही लिया जाता था और यह नियुक्ति न्यायाधीशों की वरिष्ठता के आधार पर की जाती थी । लेकिन अप्रैल 1973 में जब प्रधान न्यायमूर्वि श्री सीकरी सेवानिवृत्त हुए तो तीन न्यायाधीशों (श्री शेलट, श्री हेगड़े और श्री ग्रोवर) की वरिष्ठता का उल्लंघन करके श्री अजीतनांथ रे को नियुक्ति के सम्बन्ध में श्री सीकरी से परामर्ष नहीं लिया गया था। समस्त देश के विधि जगत द्वारा इस नियुक्ति का घोर विरोध किया गया। इस नियुक्ति के विरोध में सर्वोच्च न्यायालय के तीनों न्यायाधीशों श्री शेलट, श्री हेगड़े और श्री ग्रोवर ने त्यागपत्र दे दिया।

सन् 1977 में पुन: 1973 के ही ढंग पर मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति की गयी। जनवरी 1977 में मुख्य न्यायाधीश श्री अजीतनाथ रे के कार्यकाल की वरिष्ठता के आधार पर श्री एच0 आर0 मुंन्ना को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए था। लेकिन जस्टिस खन्ना की नियुक्ति करने के स्थान पर जस्टिस मिर्जा हमीदुल्ला बेग को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन द्वारा नियुक्ति की आलोचना की गयी और अपनी वरिष्ठता का उल्लंघन किये जाने के विरोध में न्यायाधीश एच0 आर0 खन्ना के द्वारा त्यागपत्र दे दिया गया। 1977 में सत्तारूढ़ शासक वर्ग न्यायापालिका की स्वतन्त्रता और उसकी प्रतिष्ठता को बनाये रखने के लिए वचनबंद्ध था। अत: मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त को पुन: स्वीकार करते हुए फरवरी 1978 में श्री वाई0 वी0 चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया।

न्यायाधीशों की योग्यताएं : सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधिशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है।

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या दो से अधिक उच्च न्यायालय में लगातार कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो।

या

किसी उच्च न्यायालय अथवा न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधितक्ता रह चुका हो।

या

राष्ट्रपति के विचार में एक पारंगत विधिवेत्ता हो। यह अन्तिम उपबंध वस्तुत: नियुक्ति के क्षेत्र को व्यापक करने के लिए रखा गया है। इस उपबन्ध के अनुसार किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाला कोई विख्यात न्यायशास्त्री सर्वोच्च न्यायलय में न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया जा सकेगा। संविधान में यह स्पष्ट रूप से लिखित है कि सर्वोच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश भारत राज्य क्षेत्र में किसी न्यायालय अथवा कियी अन्य पदाधिकारी के न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता है और न वह किसी न्यायालय में अन्य रूप में कार्य कर सकता है।

कार्यकाल तथा महाभियेग : सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवा निवृत्ति की आयु 65 वर्ष है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमरिका के संविधान की भांति भारतीय संविधान में आजीवन कार्यकाल की व्यवस्था नहीं की गयी है, फिर भी वर्तमान व्यवस्था व्यवहारत: वैसी ही है, क्योंकि भारत में औसत आयु को देखते हुए 65 वर्ष की आयु बहुत होती है। इसके अतिरिक्त, संविधान के अनुच्छेद 128 में किसी सेनानिवृत्त की नियुक्ति करने की भी विशेष व्यवस्था की गयी है। इस अवस्था के पूर्व वह स्वंय त्यापत्र दे सकता है। इसके अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से केवल प्रमाणित दुर्व्यवहार या अक्षमता के आधार पर ही हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद को अलग अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से प्रस्ताव पास करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राष्ट्रपति उस न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव एक ही सत्र में स्वीकार होना चाहिए और न्यायाधीश को अपने पक्ष के समर्थन तथा उसकी पैरवी का पूरा अवसर प्रदान किया जायेगा। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को 30 हजार रुपये मासिक वेतन न्यायाधीशों को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने किसी प्रेरणा या हितवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया।

12.2.1 क्षेत्राधिकार अनुच्छेद 131

भारत के सर्वोच्च न्यायालय को काफी व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त है, यहां तक कि विश्व के अन्य किसी भी न्यायालय का क्षेत्राधिकार शायद ही इतना व्यापक हो। इसके क्षेत्राधिकार का अध्ययन निम्नलिखित तीन रूपों में किया जा सकता है :

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार,

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार, और

(3) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार।

1. प्राम्भिक क्षेत्राधिकार : सर्वोच्च न्यायलय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को दो वर्गों में रखा जा सकता है।

(क) प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार : श्री दुर्गादास बसु का कहना है कि ''यद्यपि हमारा संविधान एक संधि या समझौते के रूप में नहीं है फिर भी संघ राज्यों के बीच व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारों का विभाजन किया गया है। अत: अनुच्छेद 131 संघ तथा राज्यों की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। इस संबंध में आवश्यक है कि न्यायाधीश या राज्यों के बीच न्याय योग्य विवादों के निर्णय का प्रारम्भिक तथा एकमेव क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौपता है।'' सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधकिार के अंतर्गत निम्न विषय आते हैं।

1. भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद ।
2. भारत सरकार, राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद
3. दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद, जिसमें कोई ऐसा प्रश्न अन्तर्निहित हो जिस पर किसी

वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो। न्यायालय से इस अधिकार के सम्बन्ध में निर्णय की याचना की जानी चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय को केवल संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक विवादों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार प्राप्त है अर्थात उपयुक्त प्रकार के विवाद केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही उपस्थित किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि 26 जनवरी, 1950 के पूर्व जो संधियां और संविदाएं भारत संघ और देशी राज्यों के बीच की गयी थीं और यदि वे इस समय भी लागू हैं तो उनके ऊपर उत्पन्न हुआ विवाद सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के बाहर है।

(ख) समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार : संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को लागू करने के सम्बन्धों में सर्वोच्च न्यायालय के साथ साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 32(1) द्वारा विशेष रूप से सर्वोच्च न्याायलय को उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू कराने के लिए समुचित कार्रवाई करे। इस प्रकार मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

2. अनुच्छेद 132 अपीलीय क्षेत्राधिकार : सर्वोच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ साथ संविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय कं विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायलय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) संवैधानिक : संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई समय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, ने ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी व्याख्या का कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न निहित है। निर्वाचन आयोग बनाम श्री बैंकट्राव (1953) वाले मुकदमे में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या किसी संवैधानिक विषय में अनुच्छेद 132 के अधीन किसी अकेले न्यायाधीश के निर्णय की अपील भी सर्वोच्च न्याययलय में की जा सकती है अथवा नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने इसका उत्तर हां में दिया। इसके फलस्वरूप यह न्यायालय संविधान का अन्तिम संरक्षक और व्याख्याकर्ता बन जाता है।

(2) अनुच्छेद 133 दीवानी : इस सम्बन्ध में मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1972 में हुए संविधान के 30वें संशोधन द्वारा परिवर्त्तित कर दिया गया है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसे ही दीवानी विवादों की अपील की जा सकती थी, जिसमें विवादग्रस्त राशि 20 हजार रुपये से अधिक हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में विधि आयोग ने अपनी सिफारिश में कहा कि दीवानी विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील के सम्बन्ध में धनराशि की जो सीमा है, उसे हटा दिया जाना चाहिए। इस सिफारिश के अनुसार 30वां संवैधानिक संशोधन किया गया जिसके द्वारा अनुच्छेद 133 को संशोधित करते हुए अब धनराशि की सीमा हटा दी गयी है और यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायलय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील की जा सकेगी जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। 30वें संशोधन द्वारा की गयी यह व्यवस्था निश्चित रूप से अधिक उचित और तर्कपूर्ण है।

(3) अनुच्छेद 134 फौजदारी : संविधान सभा में श्री0 पी0 के0 सेन और अन्य कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था कि ''मृत्युदण्ड के सभी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील का अधिकार प्राप्त होना चाहिए'' लेकिन श्री के0 एम0 मुन्शी और अन्य सदस्यों ने तर्क दिया कि इससे सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार बहुत अधिक बढ़ जायेगा और इंग्लैण्ड आदि देशों में भी इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है। वर्तमान वैधानिक व्यवस्था श्री मुन्शी के विचार के

अनुरूप ही है। फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील निम्न विषयों में सर्वोच्च न्यायलय में की जा सकती है।

(क) यदि उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मृत्युदण्ड दे दिया हो।

(ख) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो।

(ग) अगर उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है, तो अपील की जा सकती है।

4. अनुच्छेद 136 विशिष्ट : यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की व्यवस्था की गयी है लेकिन फिर भी कुछ मामले ऐसे हो सकते हैं जो उपयुक्त श्रेणी में नहीं आते। लेकिन जिसमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अत: अनुच्छेद 136 द्वारा साधारण कानून से भिन्न अपील सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार, इस अध्याय के किसी भी उपबन्ध के होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय आज्ञप्ति, निर्धारण दण्ड या आदेश करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।'' सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विशिष्ट अपीलीय शक्ति प्रदान की गयी है, उसके द्वारा इसका प्रयोग साधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय को अब तक भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव सम्बन्ध विवादों पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त था। 39वें संवैधानिक संशोधन (अगस्त 1975) के आधार पर व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमंत्री इन चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। 44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1978) द्वारा 39वें संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया है और अब सर्वोच्च न्यायालाय तथा उच्च न्यायलय उपयुक्त चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव विवादों की उसी प्रकार से सुनवाई कर सकते हैं, जिस प्रकार से उसके द्वारा यह कार्य 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व किया जाता था।

अपीलीय क्षेत्राधिकारी के दृष्टिकोण से भारत का सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को लक्ष्य करते हुए ही 28 जनवरी, 1950 को सर्वोच्च न्यायालय के उद्घाटन के अवसर पर भाषण देते हुए श्री एम0 सी0 सीतलवाद ने कहा था कि ''इस न्यायालय के आदेश बीस लाख वर्ग मील के विस्तृत प्रदेश में लागू होंगं, जिनमें लगभग 30 करोड़ व्यक्ति (1993 में 88 करोड़) निवास करते हैं। यह कहना सत्य होगा कि स्वरूप और विस्तार की दृष्टि से इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार और शक्तियां राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक हैं।:

3. अनुच्छेद 143 परामर्शीय क्षेत्राधिकार : संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार से विभूषित किया है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि कभी राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्त्व का है, तो वह उक्त प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परमर्श मांग सकता है। इस न्यायालय पर संवैधानिक दृष्टि से ऐसी कोई बाध्यता नहीं कि उसे परामर्श देना ही पड़ेगा।

अनुच्छेद 143 का खण्ड (2) राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह संविधान के लागू होने के पूर्व किसी संधि, समझौते आदि के सम्बन्ध में उठे विवादों को इस न्यायालय के पास उसकी सम्मति जानने के लिए भेज सके। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 1949 और 1950 के बीच हुए भारत सरकार और देशी रियासतों के समझौते

आते हैं। ऐसे विवादों में न्यायालय के लिए परामर्श देना अनिवार्य है और न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है। अब तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से नौ बार परामर्श मांगा है, जिसमें ''केरल शिक्षा विधेयक 1974 में राष्ट्रपति के चुनाव पर सर्वोच्च न्यायालय से मांगी गयी सम्मति, 1978 में विशेष अदालत विधेयक पर मांगी गयी सम्मति और 1991 में कावेरी जल विवाद पर मांगी गयी सम्मति अधिक महत्वपूर्ण है। जनवरी 1993 में अयोध्यां में विवादित ढांचे वाली भूमि पर पहले मंदिर था या नहीं, इस बारे में सर्वोच्च न्यायालय की राय लिए जाने का प्रावधान है। इस संबंध में राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत परामर्श देने का अनुरोध पत्र हाल में दाखिल करवाया है।

सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श संबंधी क्षेत्राधिकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होता है। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा सलाहकारी भूमिका अदा करना पसन्द नहीं किया गया है। इस संबंध में भारत की व्यवस्था ब्रिटेन, कनाडा और बर्मा के अनुरूप है।

सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निम्नलिखित अन्य रूपों में कार्य किया जाता है।

4. अभिलेख न्यायालय : अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय हैं।

(1) इस न्यायानय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किये जायेंगे और उन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

(2) इस न्यायालय के द्वारा न्यायालय अवमान के लिए दण्ड दिया जा सकता है। वैसे तो यह बात प्रथम स्थिति में स्वत: ही मान्य हो जाती है, लेकिन भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को उसका अवमान करने वालों को यह दण्ड देने की व्यवस्था विशिष्ट रूप से कर दी गयी है। डॉ0 अम्बेडकर के शब्दों में अभिलेख न्यायालय वह न्यायालय होता है जिसके अभिलेख का साक्ष्य की दृष्टि से मूल्य हो और जब उन्हें किसी न्यायालय में पेश किया जाय, तो उन पर कोई सन्देह या ऐतराज नहीं किया जा सके। सच तो यह है कि अवमान के लिए दण्ड दे सकने की शक्ति तो इस स्थिति का एक आवश्यक परिणाम है।''

5. मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक : भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। अनुच्छेद 32 (1) सर्वोच्च न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराता है कि वह मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे। न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परामर्श, प्रतिशेष, अधिकारपृच्छा आप उत्प्रेषण के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण होने पर वह सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के प्रति सदा सजग रहा है तथा इस कार्य में यह सफल भी रहा है।

12.2.2 स्वतन्त्रता

न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायापालिका की स्वतंत्रता लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ हैं। इसमें तीन आवश्यक शर्तें निहित हैं :

प्रथम, न्यायापालिका के निर्णय व आदेश कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप से उन्मुक्त होना चाहिए।

द्वितीय, न्यायापालिका के निर्णय व आदेश कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप से मुक्त होने चाहिए। तृतीय, न्यायाधीशों को भय या पक्षपात के बिना न्याय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकती है। अत: भारतीय संविधान द्वारा न्यायपालिका के स्वतन्त्र रखने का पूरा पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं हैं।

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति : संविधान के द्वारा सर्वोच्च और अच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है जो आवश्यकतानुसार मुख्य न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायाधीशों से परामर्श भी लेता है।

(2) लम्बी कार्यावधि और कार्यावधि की सुरक्षा : भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। उन्हें साधारणतया पदच्युत नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को केवल सिद्ध कदाचार अथवा अक्षमता के आधार पर हटा सकता है। लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जब इस हेतु संसद के प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई बहुमत के द्वारा समर्थित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा जाय। पदच्युति की इस प्रक्रिया को व्यवहार में अपनाया जाना अत्यधिक कठिन होता है।

(3) कार्यप्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति : सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्यप्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार है। लेकिन नियम संसद द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत होंगे तथा इन पर राष्ट्रपति का अनुमोदन आवश्यक होगा। इसके अंतिरिक्त, इसके निर्णय या आदेश भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायाधीश को मान्य होंगे ।

(4) कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण : न्यायालय को कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण के अभाव में उसकी स्वतन्त्रता को आधात पहुंच सकता है। अत: सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। न्यायालय के सभी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। सेवा भी न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती है।

(5) उन्मुक्तियां : सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय तथा कार्य अलोचना से परे है। संसद भी न्यायाधीशों के किन्हीं भी ऐसे कार्यों पर, जिसे कर्तव्य पालन करते हुए किया है, विचार विमर्श नहीं कर सकती।

(6) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध : संविधान एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकारी के समक्ष वकालत करने से मना करता है। लेकिन संविधान विशेष प्रकार के कार्य के सम्पादन के लिए उनकी नियुक्ति की अनुमति देता है। उदाहरणार्थ, विशेष जांच पड़ताल तथा अन्वेषण करना ।

वर्तमान समय में मुख्य न्यायाधीश को 33,000 रुपयें मासिक व अन्य न्यायाधीशों को 30,000 रूपये मासिक वेतन मिलता है एवं इन्हें अन्य भत्ते और सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। संविधान में यह भी उपबंधित है कि वितीय आपात को छोड़कर अन्य किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन और भत्तों में कमी नहीं की जायेगी। सर्वोच्च न्यायालय को संसद के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रखने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि सर्वोच्च न्यायालय के सभी व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

1973 और 19[illegible] में जिस प्रकार कमश: श्री ए0 एन0 रे तथा श्री एव0 एच0 बेग को मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया गया वह सर्वोच्च न्यायालय और समस्त न्यायापालिका की स्वतन्त्रता को आघात पहुंचाने वाला था। लेकिन 1978 से इस सम्बन्ध में पुन: निष्ठता के सिद्धान्त को अपना लिया गया है और आशा की जा सकती है कि आगे भी इस सिद्धान्त का पालन किया जायेगा। न्यायापालिका की स्वतन्त्रता के लिए ऐसा किया जाना आवश्यक है।

संविधान के प्रावधानों से स्पष्ट है कि न्यायपालिका को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाने के प्रयास किये गये हैं किन्तु व्यवहार में ऐसा लगता है कि संवैधानिक प्रावधानों में कई कमियां हैं तथा सत्ताधारी दल के नेताओं ने संविधान के पवित्र उपबन्धों के साथ खिलवाड़ किया है और उस ओर बढ़ने की चेष्टा की है जिसे प्रतिबद्ध न्यायपालिका कहा जाता है। इस दिशा में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं।

(1) **नियुक्ति की प्रक्रिया :** न्यायाधीश की नियुक्ति या मनोनयन वस्तुतः एक राजनीतिक मामला है। केन्द्रीय गृह एवं कानून मन्त्री का निर्णय ही अन्तिम होता है क्योंकि वे प्रधानमंत्री के विश्वस्त सलाहकार होते हैं जिनका निर्णायक मत होता है।

(2) संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिससे किसी न्यायाधीश को अवकाश ग्रहण करने के बाद राज्यपाल या राजदूत जैसे बड़े पद लेने से वर्जित किया जा सके।

(3) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का प्रतिमान कार्यपालिका के जिद्दी आचरण से खंडित होता है। कभी कभी कार्यपालिका अपने विवेक के नाम पर न्यायाधीशों के निर्णय पलटने का प्रयास करती है या संविधान संशोधन का नया कानून लाकर न्यायालय को उस न्यायिक अधिकार से वंचित करने की कोशिश करती है। केन्द्रीय या राज्य विधान सभाओं द्वारा निर्मित कानूनों को संविधान की अनुसूची 9 में रखने का विचित्र उपाय सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों को एक चेतावनी देने की तरह है कि वे हस्तक्षेप करने का साहस न करें।

(4) कतिपय राजनीतिज्ञों ने संसद के बाहर और भीतर न्यायाधीशों के आचरण की आलोचना की है। उससे न्यायापलिका की स्वतन्त्रता पर बुरा प्रभाव पड़ा है। यह संवैधानिक प्रावधानों का स्पष्ट उल्लंघन भी है। क्योंकि न्यायाधीशों का आचरण सदन में स्पष्ट विशेष प्रस्ताव रखे बिना चर्चित नहीं किया जा सकता।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को प्रशासकीय हस्तक्षेप से बचाने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :

1. न्यायाधीशों की नियुक्ति देश के विख्यात न्यायविदों तथा कानून वेत्ताओं द्वारा निर्मित सूची में से होनी चाहिए।
2. सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों में सेवानिवृत्ति आयु 70 वर्ष होनी चाहिए।
3. सेवानिवृत्ति के बाद अन्य कोई नियुक्ति स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध का प्रावधान होना चाहिए।
4. न्यायाधीशों को जन सम्पर्क से बचना चाहिए। इन्हें ऐसा आचरण करना चाहिए कि कोई उनकी अस्मिता पद सन्देह न कर सकें।

12.2.3 न्यायिक पुनर्विलोकन

न्यायिक पुनार्विलोकन से अभिप्राय है न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यो की वैधता की जांच करना अर्थात न्यायालय द्वारा कानूनों तथा प्रशासकीय नीतियों की संवैधानिकता की जांच तथा ऐसे कानूनों एवं नीतियों को असंवैधानिक घोषित करना जो संवविधान के किसी अनुच्छेद पर अतिक्रमण करती है। न्यायमूर्ति मार्शल ने सन् 1803 में मार्बरी बनाम मेडीसन के मामले में ज्यूडिशियल रिव्यू की व्याख्या करते हुए कहा था कि न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयों द्वारा अपने समक्ष पेश विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कार्यो का वह निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है कि क्या यह एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किये गये हैं, अथवा उन्होंने अपनी शक्तियों से बढ़कर कार्य किया है या नहीं ? वस्तुतः यह निर्णय करना कार्यपालिका का कार्य है कि कानून असंवैधानिक है या नहीं।

न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का इतिहास लगभग 190 वर्ष पुराना है। भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्निरीक्षण के सिद्धान्त का उल्लेख संविधान के उपबन्धों में कहीं नहीं मिलता है। फिर भी न्यायिक निरीक्षण के

सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्वों की मौजूदा स्थिति के कारण इस सिद्धान्त का स्वत: विकास हुआ। साधारणतया न्यायिक निरीक्षण की तीन अपरिहार्य शर्तें हैं।

(1) लिखित तथा कठोर संविधान,

(2) केन्द्र एवं राज्यों के मध्य शक्ति विभाजन तथा

(3) मौलिक अधिकारों की व्यवस्था।

भारतीय संविधान के अनेक प्रावधानों में न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का सुदृढ़ आधार उपलब्ध है जिससे परोक्ष रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता कि संविधान निर्माता सर्वोच्च न्यायालय को ऐसा अधिकार सौंपने के इच्छुक रहे हैं।

सर्वप्रथम अनुच्छेद 13 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी कानून द्वारा राज्य मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उस कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा अपने मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिए सर्वोचच न्यायालय की शरण ले सकता है।

द्वितीय संविधान के अनुच्छेद 246 के अन्तर्गत संघ और राज्यों की विधायी सीमा का उल्लेख किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है जिससे संघ अथवा राज्यों ने अपने क्षेत्राधिकार को तोड़ा हो।

तृतीय, संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन का अधिकार एकमात्र केन्द्रीय संसद को ही प्रदान नहीं किया गया है अपितु उसमें राज्य विधानसभाओं की भी निश्चित भूमिका का उल्लेख है।

चतुर्थ, संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार ऐसे मामलों में जहां संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

12.2.4 न्यायिक सक्रियतावाद

किसी भी लोकतन्त्र में कानून के शासन का मूल आधार स्वतन्त्र निष्पक्ष एवं प्रभावी न्याय व्यवस्था होती है। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के रूप में स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सक्षम न्याय व्यवस्था की स्थापना तो कर ली किन्तु उसका औपनिवेशिक अथवा सामंतशाही स्वरूप बना रहा।

किन्तु प्रसन्नता की बात है कि पिछले दशक में सर्वोच्च न्यायालय ने समय की मांग को पहचाना तथा भारतीय जनता की आवश्यकता को समझा है। उसने यह मान लिया है कि न्याय या जस्टिस का स्वरूप केवल कानून न होकर सामाजिक एवं आर्थिक भी है। उसने यह स्वीकार कर लिया है कि न्याय व्यवस्था को आम जनता की जीवन दशा को सुधारने तथा उसके मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने के लिए सकिय भागीदार बन जाना चाहिए। इस सक्रिय या क्रिया प्रधान दृष्टिकोण को अपनो के कारण भारतीय बन गयी है। सर्वप्रथम, उसने जनहितकारी विवादों को मान्यता दी है। इसके अनुसार, कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे या वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता है जिसको उसके मानवीय एवं संवैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया है।

दूसरे, इसके अर्न्तगत धारा 21 की नवीन व्याख्या की गयी है। आम आदमी के जीवन और सुरक्षा को वास्तविक बनाने का प्रयास किया गया है। इस धारा में यह कहा गया है कि विधि द्वारा स्थापित कार्यविधि के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को उसके जावन तथा निजी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जायेगा। पहले यह माना जाता रहा है कि कार्यपालिका या सरकार कोई न कोई कार्यविधि अपनाकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता या जीवन को छीन सकती है। किन्तु मेनका गांधी के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय लिया है कि कार्यविधि भी विवेक सम्मत, उत्तम तथा न्यायपूर्ण होनी चाहिए। सरकार की प्रत्येक कार्यवाही विवेकपूर्ण तरीके से सम्पन्न होनी चाहिए। संविधान के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों की प्रत्येक धारा में विवेक पूर्णता एक अनिवार्य शर्त है।

तीसरी बात, इसके अन्तर्गत सुप्रीम कोर्ट ने नागरिकों की प्रतिष्ठा की संरक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया है। सर्वोच्च न्यायालय ने प्रत्येक व्यक्ति की इस अधिकारिता को स्वीकार किया है कि वह निर्धन, असमर्थ अथवा सामाजिक आर्थिक दृष्टि से पिछड़े व्यक्ति, समूह या वर्ग के लिए न्यायालय के समक्ष वाद प्रस्तुत कर सकता है, यह बाद राज्य सरकार सरकारी अधिकारी या प्राधिकरण के विरुद्ध लाया जा सकता है।

चौथी बात, सुप्रीम कोर्ट ने पूर्णत: स्पष्ट कर दिया है कि कार्यपालिका के स्वविवेक पर नियंत्रण किया जाना चाहिए। उसके लिए विवेक तथा स्वेच्छाचारिता को आधार समझना चाहिए। राज्य अथवा कार्यपालिका का अर्थ प्रत्येक प्रकार की सार्वजनिक सत्य है।

अन्त में, सर्वोच्च न्यायालय की यह मान्यता बन गयी है कि यद्यपि न्यायाधीश या न्यायालय का काम कानून बनाना या निर्माण करना नहीं है, लेकिन वह कानून की रूपरेखाओं में रंग अवश्य भरता है अथवा विधि की सूखी हड्डियों पर रक्त मांस अवश्यमेव चढ़ाता है। इस तरह वह कानून के निर्माण में भी भाग ले रहा है। न्यायाधीश एक ऐसा सृजनात्मक कलाकार है जिसमें न्यायमूर्ति पी0 एन0 भगवती के अनुसार अरस्तू और प्लेटो दोनों के गुण पाये जाते हैं।

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय का स्वरूप सक्रिय या विधेयात्मक बन गया है और आम जनता के सामाजिक आर्थिक उत्थान में बराबर का भांगीदार बन रहा है। एक ओर, उसने संविधान की निषेधात्मक एवं उच्च वर्गोन्मुखं धाराओं को रचनात्मक तथा जनोन्मुख बनाया है, तो दूसरी ओर, जनहितकारी विवादों में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेने का अधिकार देकर, औचित्यपूर्ण कार्यविधि के सिद्धान्त की स्थापना करके, मानव प्रतिष्ठा के विस्तृत अर्थ ग्रहण करके तथा वाद सम्बन्धी, विशेषत: निर्धन एवं दुर्बल पक्षकारों को समान धरातल पर लाकर उसने आम जनता की काया पलट करने में भारी योगदान किया है।

12.3 सारांश

उच्चतम न्यायलय में एक मुख्य न्यायाधिपति एवं पच्चीस न्यायाधीश होते हैं। राष्ट्रपति द्वारा इनकी नियुक्ति होती है। ये 65 वर्ष की आयु तक कार्यरत रहते हैं। अपने दुर्व्यवहार अथवा असमर्थता के आरोप में दो सदनों के द्वारा हटाये जा सकते हैं। उच्चतम न्यायलय के अधिकार और शक्तियां प्रारम्भिक अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी होती हैं। सर्वोच्च न्यायालय को स्वतन्त्र बनाने के लिए बहुत सारे प्रयत्न किये गये हैं। 1980 के उपरान्त न्यायिक सक्रियतावाद का बढ़ावा हुआ है और जन हित याचिकायें लागू होने लगी हैं। हमारी न्याय प्रणाली में कुछ दोष भी हैं किन्तु स्वतन्त्र न्यायालय संघीय व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।

12.5 कुंजी शब्द

1. सक्रियतावाद : न्यायालय की कार्य प्रणाली में रचनात्मक बढोतरी ।
2. जन हित याचिका : यह सार्वजनिक हित संरक्षण के सम्बन्धित मामलों में समूह को संरक्षण देने के लिए न्यायालय में दर्ज की याचिका।

12.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सवोच्च न्यायालय के संगठन एवं कार्यो की चर्चा करें।
   उत्तर- (12.0-12.2.1)

2. सर्वोच्च न्यायालय का भारतीय संविधान में क्या महत्त्व है? उसकी शक्तियों के आलोक में इसका ब्रर्णन करें।

   उत्तर- (12.0–12.2.4)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

3. न्यायिक सक्रियतावाद पर टिप्पणी दें।

   उत्तर- (12.2.4)

12.6 ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति : डॉ0 पुखराज जैन, डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया

3. भारतीय संविधान एवं नागरिक जीवन : आर0 आर0 सेठी

❖❖❖

राज्य विधानमण्डल
विधान सभा एवं विधान परिषद

पाठ संरचना

13.0 भूमिका
13.1 उद्देश्य
13.2 विधान सभा का गठन
13.2.1 विधान सभा के पदाधिकारी
13.2.2 विधान सभा की शक्तियां
13.2.3 विधान मंडल की शक्तियों पर नियंत्रण
13.2.4 कानून निर्माण की प्रक्रिया
14.0 भूमिका (13.0-वही)
14.1 उद्देश्य (13.1-वही)
14.2 विधान परिषद का गठन
14.2.1 विधान परिषद के कार्य
14.2.2 विधान परिषद की उपयोगिता
14.2.3 निष्कर्ष
14.2.4 दोनों सभाओं का तुलनात्मक अध्ययन
14.2.5 शक्तियों पर प्रतिबन्ध
14.3 सारांश
14.4 कुंजी शब्द
14.5 अभ्यास हेतु प्रश्न
14.6 अध्ययन हेतु पुस्तक
अनुच्छेद (168–213)

13.0 भूमिका

विधानमण्डल लोकतन्त्र के मन्दिर हैं। संविधान के द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल की व्यवस्था की गयी है। राज्य विधानमण्डल में राज्यपाल और एक या दो सदन सम्मिलित हैं। राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन को विधानसभा कहते हैं तथा उच्च सदन को विधान परिष्द कहते हैं। डॉ0 सुभाष काश्यप लिखते हैं "राज्य

विधानमण्डल का निम्न सदन विधानसभा है जिसके सदस्य सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित सदस्य होते हैं। यदि राज्य की विधान परिषद का नाम उच्च सदन भी है जिसमें नाम निर्देशित और परोक्ष रूप से निर्वाचित सदस्य होते हैं। यदि राज्य की विधानसभा का एक विशेष बहुमत चाहे तो जिस राज्य में द्वितीय सदन नहीं है, वहां उसकी स्थापना हो सकती है और जहां द्वितीय सदन कार्यरत है वहां उसको समाप्त किया जा सकता है। इस हेतु राज्य विधानसभा को केवल एक प्रस्ताव पारित करना होता है जिसके आधार पर संसद कानून द्वारा उपर्युक्त व्यवस्था कर देती है। वर्त्तमान में उत्तर प्रदेश, जम्मू काश्मीर, कर्नाटक, महाराष्ट्र और बिहार राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमण्डल एवं शेष राज्यों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका है। जहां विधानमण्डल का एक ही सदन है वहां उसे विधानसभा कहा गया है। पायलों के अनुसार, विधानसभा की रचना लोकसभा के ढांचे पर है तथा विधान परिषद की राज्यसभा से समानता है।

13.1 उद्देश्य

विधानमण्डल के गठन के विषय में राज्यों के लिए शासन की एक जैसी प्रणाली विहित की गई है। किन्तु संविधान बड़े और छोटे राज्यों के बीच अंतर करता है। कोई राज्य एकसदनीय तो कोई राज्य द्विसदनीय विधानमण्डल की व्यवस्था भी करता है। संसद के दोनों सदनों की भांति ही विधानसभा और विधानपरिषद समकक्ष सदन नहीं है। दुर्गादास बसु का कहना है- "यह स्पष्ट है कि विधानपरिषद की स्थिति विधानसभा की अपेक्षा कम महत्त्व की है। इसका महत्त्व इतना कम है कि इसका अस्तित्व व्यर्थ जान पड़ता है।"

13.2 विधानसभा का गठन

निर्वाचन क्षेत्र : किसी राज्य की विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। इस उद्देश्य से राज्य को विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से एक सदस्य निर्वाचित होता है। निर्वाचन क्षेत्रों का विभाजन जनसंख्या के आधार पर होता है।

मूल संविधान में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक जनगणना के बाद राज्य की विधानसभा की सदस्य संख्या निर्धारित की जानी चाहिए और निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन किया जाना चाहिए। शुरू में यह व्यवस्था थी कि किसी राज्य की विधानसभा की सदस्य संख्या राज्य की आबादी के अनुसार 500 से अधिक और 60 से कम नहीं होना चाहिए। लेकिन, 42वें संविधान संशोधन द्वारा विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या, विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन और विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए सुरक्षित स्थानों की संख्या को 1971 ई0 की जनगणना के आधार पर 2001 ई0 तक के लिए निश्चित कर दिया गया है।

स्थान संरक्षण संविधान के अनुच्छेद 332 द्वारा विधानसभा में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए जनसंख्या के आधार पर स्थान संरक्षित किए जाएंगे। असम की विधानसभा में स्वायत्तशासी आदिम जिलों के लिए स्थान संरक्षित किए गए हैं।

राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि विधानसभा में आंग्ल-भारतीय समुदायके कुछ सदस्यों को नामांकित कर सकता है, अगर यह समझें कि इस समुदाय को वांछनीय प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है। मूलत: अनुसूचित तथा जनजातियों और आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधियों के लिए स्थानों के संरक्षण की व्यवस्था संविधान के प्रारंभ होने के बाद सिर्फ 10 वर्षों के लिए की गई थी। लेकिन, सांविधानिक संशोधनों द्वारा इस व्यवस्था को फिर 1959, 1969, 1979, 1989 और 1989 ई0 में 10-10 वर्षों की अवधि के लिए बढ़ाया गया।

अवधि-विधानसभा की अवधि पांच वर्षों की होती है। किन्तु,

1. राज्यपाल उसे पांच वर्ष पूरा होने के पहले भी विघटित कर सकता है,
2. राज्यपाल द्वारा आपात की उद्घोषणा की दशा में पांच वर्षों की अवधि का उत्साद किया जा सकता है।

ऐसी दशा में संघ की संसद को यह शक्ति होगी कि वह उद्‌घोषणा के प्रभावी न रहने के पश्चात छह मास से अनधिक की अवधि के लिए विधानसभा के जीवन का विस्तार कर सकेगी, इस शर्त के अधीन रहते हुए कि ऐसा विस्तार एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगा।

अर्हताएँ : विधानसभा का सदस्य वही व्यक्ति हो सकता है। जो

1. भारत का नागरिक हो।
2. कम से कम 25 वर्ष का हो।
3. संसद द्वारा प्रदत्त अन्य योग्यताओं को पूरा करता हो।

कोई भी व्यक्ति किसी राज्य के दोनों सदनों या दो से अधिक राज्य विधानमंडलों का सदस्य एक ही समय में नहीं हो सकता। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, में यह उपबंध किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी विधानसभा के लिए निर्वाचित नहीं होगा जबतक कि वह उस राज्य में किसी विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता न हो।

निरर्हताएँ : कोई भी व्यक्ति विधानसभा का सदस्य नहीं हो सकता, अगर

1. वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के पद पर हो।
2. वह न्यायालय द्वारा पागल घोषित कर दिया गया हो।
3. वह दिवालिया हो।
4. वह भारत का नागरिक न हो या किसी विदेशी राज्य की नागरिकता ग्रहण कर ली हो या किसी विदेश राज्य के प्रति राजभक्त हो।
5. वह संसदीय विधि के अनुसार निर्योदय हो। दूसरे शब्दों में, संसद की विधि किसी व्यक्ति को राज्य विधानमंडल की सदस्यता से ऐसे आधारों पर निरर्हत कर सकती हैं जो ऐसी विधि से अधिकथित किए जाएं। लोक-प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951, में निरर्हता के कुछ आधार दिए गए हैं, जैसे- न्यायालय द्वारा दोषी-सिद्ध ठहराया जाना, निर्वाचन के संबंध में किसी भ्रष्ट या अवैध आचरण का दोषी होना, किसी ऐसे निगम का निर्देशक या प्रबन्ध अभिकर्ता होना जिसमें सरकार का वित्तीय हित है। इस संबंध में विवाद का प्रश्न राज्यपाल के विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जाएगा। राज्यपाल निर्वाचन आयोग की राय के अनुसार कार्य करेगा। उसका विनिश्चय अंतिम होगा और किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।

मतदाता की योग्यताएं- राज्य विधानसभा का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। प्रत्येक नागरिक को, जिसकी उम्र 18 वर्ष हो, मतदान का अधिकार होगा, बशर्ते कि वह उस क्षेत्र का निवासी हो, पागल न हो, भ्रष्ट या अवैधानिक कार्यों के लिए दंडित् न किया गया हो। प्रत्येक आम चुनाव के पहले विगत जनगणना के आधार पर निर्वाचक सूची तैयार की जाती है जिसे लोकसभा और विधानसभा दोनों के चुनाव के संबंध में काम में लाया जाता है। विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन चुनाव आयोग के तत्त्वावधान में होता है।

गणपूर्त्ति : विधानसभा की बैठक में गणपूर्त्ति के लिए 1/10 या 10 सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है, इनमें जो भी संख्या अधिक हो। विधानसभा गणपूर्त्ति की संख्या में परिवर्तन ला सकती है या इस संबंध में कानून बना सकती है।

सत्र-संविधान में यह उपबंधित है कि विधानसभा की बैठक वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य होना चाहिए तथा सत्रों के बीच छह महीने से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिए। राज्यपाल सभा को आहूत करता है।

13.2.1 विधानसभा के पदाधिकारी

विधानसभा के दो प्रमुख अधिकारी हैं : अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष। अपनी प्रथम बैठक में ही एक **अध्यक्ष का** निर्वाचन करती है।

पदच्युति : अध्यक्ष को सदन के स्पष्ट बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव पारित कर पदच्युत किया जा सकता है। इस उद्देश्य से सभा की विशेषज्ञ बैठक बुलाने के लिए 15 दिनों की नोटिस देनी पड़ती है। सभा की जिस बैठक में अध्यक्ष की पदच्युति के संबंध में विचार हो उस बैठक की वह अध्यक्षता नहीं करेगा। लेकिन वह बैठक में उपस्थित रह सकता है तथा इसकी कार्यवाही में भाग ले सकता है। यहां तक कि वह मतदान भी कर सकता है, लेकिन केवल ग्रंथि या बराबरी की स्थिति में। अगर विधानसभा की सदस्यता समाप्त हो जाए तो अध्यक्ष को अपने पद से हट जाना पड़ेगा। अध्यक्ष त्यागपत्र देकर भी अपने पद से हट सकता है।

विधानसभा के विघटन के साथ अध्यक्ष के पद की समाप्ति नहीं होती। वही विघटन के बाद नई सभा की प्रथम बैठक तक अपने पद पर बना रहता है।

कार्य एवं अधिकार : अध्यक्ष के वेतन या भत्ते राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्धारित किए जा सकते हैं। यह राज्य की संचित निधि पर भारत व्यय है। इसलिए, उनपर सभा में मतदान हो सकता है। विधानसभा के अध्यक्ष को लोकसभा के अध्यक्ष के समान अधिकार प्राप्त है। वह सदन का निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र सभापति है। उसे सदन में निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं।

1. वह सदन में प्रश्नों तथा प्रस्तावों को रखने की अनुमति देता है।
2. वह सदन की विभिन्न कार्यवाहियों के लिए समय निर्धारित करता है।
3. वह सदन के नेता के परामर्श से कार्यवाहियों का क्रम तथा भाषणों के लिए समय निश्चित करता है।
4. वह अध्यक्षों की सूची बनाता तथा प्रवर समितियों या सदन की अन्य समितियों को नामजद करता है।
5. वह सदन के नियमों की व्याख्या करता है।
6. वह प्रक्रिया संबंधी विवाद पर निर्णय देता है और उसका निर्णय अंतिम होता है।
7. अध्यक्ष का महत्त्वपूर्ण कार्य सदन में शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रखना है। इस उद्देश्य से किसी भी सदस्य को सदन में बाहर जाने की आज्ञा दे सकता है या उसकी सदस्यता निलंबित कर सकता है।
8. यदि सदन में गंभीर अव्यवस्था अथवा अशांति उत्पन्न हो तो अध्यक्ष सदन की कार्यवाही स्थगित या निलंबित कर सकता है।
9. वह सबन के सदस्यों के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा करता है।
10. वह निश्चित करता है कि कोई भी विधेयक धन विधेयक है या नहीं।
11. वह सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को अपने विवेकानुसार निकाल देने का आदेश दे सकता है जो उसकी समझ से मानहानिकारक, अशिष्ट तथा असंसदीय है।

अध्यक्ष की भांति विधानसभा एक उपाध्यक्ष का भी चुनाव करती है। उसे पदच्युत करने की प्रक्रिया भी वह है जो अध्यक्ष के लिए है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसके कार्यों का संपादन करता है।

अगर अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का पद खाली हो तो उस स्थिति में राज्यपाल सदन के किसी सदस्य को अध्यक्ष के कार्यों के लिए नियुक्त कर सकता है। अगर अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों सदन की बैठक में अनुपस्थित हों तो सदन को कोई भी सदस्य सदन के नियमों के अनुसार अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा। अगर ऐसा व्यक्ति भी अनुपस्थित हो तो सभा द्वारा निश्चित सदन का अन्य कोई सदस्य अध्यक्षता करेगा।

13.2.2 विधानसभा की शक्तियां

विधानसभा राज्य विधानमंडल का प्रथम तथा सदन है। यही विधि निर्माण तथा वित्तीय मामलों का एकछ अधिकारी है। इसे निम्नलिखित शक्तियों प्राप्त हैं।

1. विधायी शक्तियां : विधि निर्माण के क्षेत्र में विधानसभा काफी शक्तिशाली है। इसे राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने का अनन्य अधिकार प्राप्त है। यह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है लेकि

संसदीय विधि के विरोध की स्थिति में संसद द्वारा निर्मित विधि ही प्रभावी होगी। इस संबंध में एक अपवाद यह है कि अगर समवर्ती विषय पर विधानसभा द्वारा निर्मित कानून राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए संरक्षित हो या राष्ट्रपति उसपर अपनी स्वीकृति दे दे तो उस स्थिति में संसदीय विधि के बावजूद राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित कानून ही प्रभावी होगा।

द्विसदनात्मक राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन में साधारण विधेयक पेश किया जा सकता है। इस संबंध में विधानपरिषद केवल चार महीने की देरी लगा सकती है। अंतत: विधानसभा का निर्णय ही अंतिम होगा।

2. वित्तीय शक्तियाँ : विधानसभा राज्य के वित्त को नियंत्रित करती है। धन विधेयक इस सदन में ही प्रारंभ किया जा सकता है। यद्यपि धन विधेयक या अनुदान की मांग पर दोनों सदनों में विवाद होता है, लेकिन मतदानका अधिकार सिर्फ विधानसभा को है।

3. कार्यकारी शक्तियाँ : भारतीय राज्यों में संसदीय प्रणाली की सरकार को अपनाया गया है जिसके अंतर्गत मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। सभा प्रश्न तथा पूरक पूछकर, स्थगन प्रस्ताव लाकर या किसी अन्य प्रकार का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिपरिषद को नियंत्रित करती है। वह अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर सकती है।

4. विविध शक्तियाँ : विधानसभा को निर्वाचन संबंधी अधिकार दिये गए हैं। यह राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेती है। इस सभा को संविधान संबंधी अधिकार भी प्राप्त है। संविधान के कुछ उपबंधों में संशोधन लाने के लिए कम से कम आधे राज्य विधानमंडलों की स्वीकृति आवश्यक है।

13.2.3 राज्य विधानमंडल की शक्तियों पर नियंत्रण

साधारणत: राज्य विधानमण्डल को अपने क्षेत्र में पूर्ण सार्वभौम सत्ता प्राप्त है। लेकिन, कुछ नियंत्रण भी है:

1. कुछ विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना राज्य विधानमंडल में पेश नहीं किए जा सकते । उदाहरणस्वरूप वह विधेयक जो राज्यों के बीच व्यापार तथा व्यवसाय पर बंधन लगाता है।
2. राज्य विधानमंडल द्वारा पारित कुछ विधेयक कानून नहीं बन सकते जबतक कि उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो, उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा निजी संपत्ति को अधिकृत करना तथा संसदीय विधि के विरोध में पारित समवर्ती सूची पर राज्य विधेयक।
3. संविधान संसद को राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार देता है, अगर राज्यसभा उस विषय को उपस्थिति तथा मतदान करनेवाले दो तिहाई सदस्य के बहुमत से राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर दे। (धारा 249)
4. आपातकालीन स्थिति में राज्य सूची के विषय पर संसद कानून बना सकती है, लेकिन ऐसी संसदीय विधि उदघोषणा की समाप्ति के 6 महीने के बाद प्रभावी न रहेगी।
5. राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता की स्थिति में राष्ट्रपति यह घोषित कर सकता है। राज्य विधानमंडल की शक्तियां संसदीय शक्ति के अंतर्गत या उसके द्वारा प्रयोग में लाई जाएगी।
6. असम का राज्यपाल सीमावर्ती क्षेत्रों के संबंध में स्वविवेक से कार्य करता है। वह इन क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता के रूप में करता है। असम राज्य विधानमंडल का इन क्षेत्रों के संबंध में कानून प्रभावी होगा।
7. संघ सरकार के सदृश राज्य सरकार विदेशी राज्यों से धन उधार नहीं ले सकती है। यह केंद्रीय सरकार की अनुमति से ही किसी प्रकार का ऋण उगाह सकती है। राज्य विधानमंडल की शक्ति पर यह वित्तीय नियन्त्रण है।

13.2.4 कानून निर्माण की प्रक्रिया

साधारण विधेयकों के संबंध में : साधारण विधेयक मन्त्रिपरिषद् के किसी सदस्य या विधानमंडल के किसी भी सदस्य द्वारा विधानमंडल के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। यदि विधेयक मन्त्रिपरिषद के किसी सदस्य द्वारा रखा जाता है तो इसे सरकारी विधेयक और यदि राज्य विधानमंडल के किसी अन्य सदस्य द्वारा रखा जाता है तो उसे निजी सदस्य विधेयक कहा जाता है। राज्य विधानमंडल को भी कानून निर्माण के लिए लगभग वैसी ही प्रक्रिया अपनानी होती है, जेसी प्रक्रिया संसद के द्वारा अपनायी जाती है। ऐसे विधेयकों को कानून का रूप ग्रहण करने के लिए अग्रलिखित अवस्थाओं में से गुजरना होता है।

1. विधेयकों की प्रस्तुति तथा प्रथम वाचन : सरकारी विधेयकों के लिए कोई पूर्व सूचना देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु निजी सदस्य विधेयकों के लिए एक महीने की पूर्व सूचना जरूरी है। सरकारी विधेयक साधारणतया सरकारी गजट में छाप दिया जाता है और इस पर किसी भी समय आवश्यकता के अनुसार विचार किया जा सकता है। निजी सदस्य विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए तारीख निश्चित कर दी जाती है। निश्चित तिथि को विधेयक पेश करने वाला सदस्य अपने स्थान पर खड़ा होकर उस विधेयक को पेश करने के लिए सदन से आज्ञा मांगता है और उसके बाद विधेयक के शीर्षक को पढ़ता है। यदि विधेयक बहुत महत्त्वपूर्ण होता है तो विधेयक पेश करने वाला सदस्य विधेयक पर एक संक्षिप्त भाषण भी दे सकता है। यदि उस सदन में उपस्थिति और मतदान में भाग लेने वाले सदस्य बहुमत से विधेयक का समर्थन करते हैं, तो विधेयक सरकारी गजट में छाप दिया जाता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन समझा जाता है।

2. द्वितीय वाचन : प्रथम वाचन के बाद विधेयक प्रस्तावित करने वाला सदस्य प्रस्ताव रखता है कि उसके विधेयक का द्वितीय वाचन किया जाय। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर ही वाद विवाद होता है उसकी एक एक धारा पर बहस नहीं होती है। जब इस प्रकार के वाद विवाद के बाद कोई विधेयक पारित हो जाता है, तो उसे प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है।

3. प्रवर समिति अवस्थ : दूसरे वाचन के बाद विवादपूर्ण विधेयकों को प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है। इसमें विधानमंडल के 25 से 30 तक सदस्य होते हैं। इस अवस्था में विधेयक की प्रत्येक धारा का प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। इस प्रतिवेदन को सदन के सम्मुख पेश किया जाता है।

4. प्रतिवेदन अवस्था : प्रवर समिति द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिवेदन पर सदन के द्वारा रखे गये प्रत्येक सुझाव पर सदन में मतदान होता है। यदि कोई सुझाव पास न हो तो मूल धारा पर मतदान लिया जाता है। इस तरह विध ेयक की प्रत्येक धारा पर विचार और वाद विवाद करके उसे स्वीकार किया जाता है। विधि निर्माण की समस्त प्रक्रिया में यह अवस्था सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

5. तृतीय वाचन : प्रतिवेदन अवस्था की समाप्ति के कुछ समय बाद उसका तृतीय वाचन प्रारंभ होता है। इस अवस्था में साधारण सिद्धान्तों पर फिर से बहस की जाती है और विधेयक में भाषा संबंधी सुधार किये जाते हैं। इस अवस्था में विधेयक की धाराओं में कोई परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता, या तो संपूर्ण विधेयक को स्वीकार कर लिया जाता है या अस्वीकार। इसके बाद मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा अस्वीकृत होने पर इसे सदन द्वारा स्वीकृत कर लिये जाने पर, जिन राज्यों में विधानमंडल का एक ही सदन है, वहां विधेयक राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है और जिन राज्यों में विधानमंडल के दो सदन हैं, वहां विधेयक दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। द्वितीय सदन में भी विधानमंडल के दो सदन हैं, वहां विधेयक दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। द्वितीय सदन में भी विधेयक को उन्हीं अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है, जिन अवस्थाओं से होकर विधेयक प्रथम सदन में गुजरता था। यदि विधेयक विधानसभा द्वारा पारित होने के पश्चात विधान परिषद द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद तीन महीने तक विधेयक पर विचार पूरा नहीं कर पाती या परिषद विधेयक में ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा

को स्वीकार नहीं होते, तो विधानसभा उस विधेयक को पुन: स्वीकृत करके परिषद के पास भेजती है। जब यदि परिषद पुन: विधयेक अस्वीकृत कर देती है अथवा दुबारा विधेयक पास नहीं करती या परिषद विधेयक में पुन: संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार्य नहीं होते तो विधेयक विधान परिषद द्वारा पारित किये जाने के बिना ही दोनों सदनों द्वारा पास हुआ समझ लिया जाता है।

राज्यपाल की स्वीकृति : विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने पर राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल या तो उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे देता है अथवा कुछ सुझावों सहित विधानमंडल के पास दुबारा भेज सकता है। यदि राज्य विधानमंडल उस विधेयक को राज्यपाल द्वारा सुझाये गये संशोधनों सहित या रहित रूप से दोबारा पास कर देता है तो राज्यपाल को विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी ही होगी। राज्यपाल की स्वीकृति के बाद यह विधेयक कानून बन जायेगा। अनेक बार राज्यपाल कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज देता है, ऐसे विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही कानून बन जाते हैं।

वित्त विधेयक

वित्त विधेयक पारित करने की प्रक्रिया के संबंध में कुछ विशेष बातें हैं। संविधान के अन्तर्गत वित्त विधेयक वे होते हैं जिनका संबंध निम्न बातों से हो :

1. किसी कर को लागू करने, परिवर्त्तन करने या व्यवस्थित करने से संबंधित विधेयक।
2. ऋण लेने, राज्य द्वारा अनुग्रह प्रदान करने अथवा राज्य के किसी आर्थिक कर्त्तव्य से संबंधित विधेयक।
3. राज्य की संचित निधि और आकस्मिक निधि पर किसी भी रूप में प्रभाव डालने से संबंधित विधेयक। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त उन्हें भी वित्त विधेयक समझा जायेगा जिसे विधानसभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं और विधान परिषद को वित्त विधेयकों के संबंध में लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो राज्यसभा को केन्द्रीय वित्त विधेयकों के संबंध में है। विधानसभा द्वारा पारित वित्त विधेयक विधानपरिषद के पास विचारार्थ भेज दिया जाता है। यदि परिषद उस विधेयक को प्राप्ति की तिथि से चौदह दिन बाद तक ना लौटावे, तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत समझा जायेगा। यदि परिषद चौदह दिन की अवधि में विधेयक को अपने संशोधन सहित लौटा भी दे, तो इन संशोधनों को स्वीकार या अस्वीकार करना विधानसभा पर निर्भर करता है। विधानसभा इन संशोधनों के साथ या इन संशोधनों के बिना, जिन रूप में भी विधेयक को राज्यपाल के पास भेजना चाहे, भेज सकती है और राज्यपाल की स्वीकृति से यह विधेयक कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

14.0 एवं 14.1 भूमिका एवं उद्देश्य

राज्य विधानमंडल के दोनों सदनों राज्य विधान सभा एवं राज्य विधान परिषद की भूमिका एवं उद्देश्य समान हैं।

14.2 विधान परिषद का गठन

संगठन : मूल संविधान में व्यवस्था थी कि किसी राज्य में विधानपरिषद के सदस्यों की संख्या राज्य विधानसभा के सदस्यों की एक चौथाई संख्या से अधिक नहीं होनी चाहिए तथा किसी भी राज्य की विधानपरिषद की सदस्य संख्या 40 से कम नहीं होनी चाहिए। संविधान के सातवें संशोधन (1956 ई0) द्वारा इस व्यवस्था में यह परिवर्त्तन लाया गया कि परिषद की सदस्य संख्या विधानसभा की सदस्य संख्या की एक तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिए। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि द्वितीय सदन प्रथम सदन पर हावी न हो पाए।

संविधान विधानपरिषद के संगठन के संबंध में अंतिम शक्ति संसद को देता है। लेकिन, जबतक संसद इसके लिए विशेष कानून नहीं बनाती है तबतक परिषद का संगठन संविधान के अनुसार ही निर्धारित होगा। संविधान के

अनुसार यह सदन अंशतः नामांकित तथा अंशतः निर्वाचित निकाय है। निर्वाचन अप्रत्यक्ष विधि से तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत प्रथा द्वारा होगा।

मोटे तौर पर परिषद की कुल सदस्य संख्या के 5/6 सदस्य अप्रत्यक्ष रूपसे निर्वाचित होंगे तथा 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा नामांकित होंगे। निर्वाचन प्रणाली के अनुसार सदस्यों की संख्या का विभाजन निर्म्नलिखित रूप में है।

1: 1/3 सदस्यों का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा होगा जिसमें स्थानीय संस्थाओं (नगरपालिका, जिला परिषद या संसद् द्वारा इंगित स्थानीय संस्थाओं के सदस्य होंगे।

2. 1/12 सदस्य राज्य में रहने वाले तीन वर्ष पूर्व उत्तीर्ण हुए स्नातकों द्वारा निर्वाचित होंगे।

3. 1/12 सदस्य कम से कम तीन वर्ष अनुभववाले माध्यमिक विद्यालय या उसके ऊपर के शिक्षण संस्थानों में शिक्षणकार्य में संलग्न शिक्षकों के द्वारा निर्वाचित होंगे

4. 1/3 सदस्य विधानसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होंगे।

5. शेष सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से राज्यपाल द्वारा नामांकित होंगे जिन्होंने साहित्य, विज्ञान, सहकारिता आंदोलन तथा समाजसेवा के क्षेत्र में ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किया हो। न्यायालय राज्यपाल के नामनिर्देशन की सदभावना या औचित्य को प्रश्नगत नहीं कर सकता।

विभिन्न राज्यों के द्वितीय सदनों की सदस्य संख्या निम्नलिखित निर्धारित की गई है- बिहार 96, जम्मू काश्मीर 36, उत्तरप्रदेश 108, कर्नाटक 75 और महाराष्ट्र 78।

सदस्यों की अर्हताएँ : विधानपरिषद की सदस्यता निम्नलिखित अर्हताएँ निर्धारित की गई हैं :

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी उम्र 30 वर्ष से कम न हो।
3. उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं हों जो इस निमित्त संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन विहित की जाएं। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में यह उपबंध किया गया है कि कोई व्यक्ति विधानपरिषद के लिए निर्वाचित नहीं होगा जबतक उस राज्य में किसी विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता न हो।

निरर्हताएँ : संविधान के अनुच्छेद 191 के अनुसार कोई व्यक्ति विधानपरिषद की सदस्यता के लिए अयोग्य होगा, अगर

1. वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के पद पर हो। संघ या राज्य के मंत्रियों या विधि द्वारा निर्धारित किसी अन्य पद पर यह बंधन लागू नहीं होगा।
2. वह न्यायालय द्वारा पागल घोषित किया गया है।
3. वह दिवालिया हो।
4. वह भारत का नागरिक न हो या स्वेच्छा से किसी अन्य राज्य की नागरिकता अर्जित कर ली हो या किसी विदेशी राज्य के प्रति राज्यभक्त हो।
5. वह संसदीय विधि के अंतर्गत संसद द्वारा बनाए गए कानून के द्वारा नियोग्य हो।

अनुच्छेद 192 के अनुसार कोई व्यक्ति उपर्युक्त शर्तों के अंतर्गत नियोग्य है या नहीं, इसका निर्णय उस राज्य का राज्यपाल करेगा। राज्यपाल कोई भी निर्णय निर्वाचन आयोग के परामर्श से करेगा। राज्यपाल के निर्णय के विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकेगी।

अवधि : विधानपरिषद एक स्थायी सदन है, जिसे कभी भंग नहीं किया जाता। इसके 1/3 सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष पर निवृत्त हो जाएंगे। प्रत्येक सदस्य की अवधि छह वर्ष होती है। इस प्रकार, राज्यसभा की भांति विधानपरिषद भी एक स्थायी सदन है।

गणपूर्त्ति : विधानपरिषद की बैठकों के लिए गणपूर्त्ति की संख्या संपूर्ण सदस्यों का 1/10 भाग या 10 सदस्य है। इसमें से जो भी अधिक हो वही मान्य होगा। राज्य विधानमंडल इस संबंध में विधि द्वारा परिवर्त्तन भी ला सकता है।

सभापति : विधानपरिषद का एक सभापति भी होता है जिसका चुनाव परिषद द्वारा अपने सदस्यों के बीच से होता है। परिषद एक उपसभापति भी चुनती है, जो सभापति की अनुपस्थिति में सदन की बैठक की अध्यक्षता करता है। सभापति तथा उपसभापति को परिषद एक प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है।

परिषद का अपना सचिवालय भी होता है, जिसके कर्मचारियों को परिषद द्वारा निर्मित नियम के अनुसार सभापति बहाल करता है। उनकी सेवा की शर्तों को भी वह निर्धारित करता है।

कार्यवाही का संचालन : विधानपरिषद की कार्यवाही से संबंधित सांविधानिक उपबंध लगभग संसदीय उपबंधों की हू-बहू नकल है। सदन की बैठक वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य होनी चाहिए तथा दोनों बैठकों के बीच छह महीने से अधिक की अवधि नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक नए सत्र के प्रारंभ में राज्यपाल का अभिभाषण होता है जिसमें राज्य की नीतियों का उल्लेख किया जाता है। अभिभाषण पर दोनों सदनों में वाद विवाद होता है तथा अंत में धन्यवाद का प्रस्ताव पारित किया जाता है। धन विधेयक के अतिरिक्त अन्य विधेयक इस सदन में भी पेश किए जा सकते हैं। सभी निर्णय उपस्थित तथा मत देनेवाले सदस्यों के बहुमत से होते हैं। बराबरी की स्थिति में सभापति अपना निर्णायक मत दे सकता है।

14.2.1 विधान परिषद के कार्य

विधान परिषद एक कमजोर द्वितीय सदन है। इसे राज्यसभा से कम अधिकार प्राप्त है। इसके कार्यों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

(क) विधायी शक्तियाँ : एक साधारण विधेयक इस सदन में भी पेश किया जा सकता है। किन्तु दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर ही वह कानून बन सकता है। विधानसभा द्वारा पारित होने के बाद विधेयक विधानपरिषद के पास जाता है। परिषद विधेयक को अस्वीकृत कर सकती है या उसे संशोधित कर सकती है या उसपर कोई कार्यवाही नहीं भी कर सकती या उसे उसी रूप में पारित कर सकती है जिस रूप में विधानसभा ने उसके पास भेजा था। अगर परिषद तीन महीने के अंदर विधानसभा को सूचना नहीं देगी तो विधेयक परिषद द्वारा अस्वीकृत समझा जाएगा। परिषद अगर विधेयक को अस्वीकृत करती है या संशोधित करती है। वह परिषद के सुझावों को अस्वीकृत कर सकती है तथा फिर से परिषद के पास भेज सकती है तो इस बार एक महीने से अधिक की देरी नहीं लगा सकती है। अगर इस बार भी परिषद विधानसभा द्वारा पारित विधेयक को स्वीकृत नहीं करती है तो विधानसभा अपने मतानुसार पारित कर देती है। इस प्रकार, विधानपरिषद प्रथम बार तीन महीने की देरी तथा दूसरी बार एक महीने की देरी लगा सकती है, अर्थात् परिषद विधानसभा द्वारा पारित विधेयक के मार्ग में अधिक से अधिक चार महीने की देरी लगा सकती है। संविधान इस प्रश्न पर मौन है कि उस विधेयक के संबंध में क्या होगा जो परिषद द्वारा पारित होगा, लेकिन विधानसभा द्वारा अस्वीकृत। विशेषज्ञों का कहना है कि इस प्रकार का विधेयक अंतिम रूप से अस्वीकृत समझा जाएगा।

(ख) वित्तीय शक्तियां : वित्तीय क्षेत्र में विधानपरिषद की वही स्थिति है जो राज्यसभा की है। इस सदन में धन विधेयक को पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता। विधानसभा द्वारा पारित होने के बाद धन विधयेक परिषद के पास सुझाव के लिए भेजा जाता है। परिषदको अपने सुझावों के साथ 14 दिनों के अंदर विधेयक को विधानसभा के पास लौटा देना पड़ता है। अगर इस अवधि के अंदर ऐसा नहीं करती है तो विधेयक स्वतः कानून बन जाता है। थोड़े में वित्तीय मामलों में विधानपरिषद को नहीं के बराबर अधिकार प्राप्त है।

(ग) कार्यकारी शक्तियां : मन्त्रिपरिषद को नियंत्रित करने की वास्तविक शक्ति विधानसभा को प्राप्त है, क्योंकि मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। इस संबंध में भी विधानपरपिद की शक्ति नगण्य है। फिर भी, उससे कुछ हद तक पूरक प्रश्न पूछे जा सकते हैं। सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्न पर इस सदन में वाद विवाद हो सकता हैं तथा प्रस्ताव पारित किया जा सकता है। लेकिन विधानसभा के सदृश यह मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित नहीं कर सकती है।

14.2.2 विधान परिषद की उपयोगिता

राज्य के द्वितीय सदन की उपयोगिता एक विवादपूर्ण प्रश्न है। कुछ लोगों का कहना है कि इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, अतः इसे उठा देना चाहिए। दूसरी ओर अन्य लोगों का कहना है कि यह उपयोगी संस्था है, अतः इसे कायम रखना चाहिए और अन्य राज्यों में भी इसकी स्थापना की जानी चाहिए। हम यहां दोनों पहलूओं पर विचार करेंगे।

विरोध में तर्क : विधानपरिषद के विरोध में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं :

1. निरर्थक या दुष्ट : आलोचकों का कहना है कि अगर द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमत है तो निरर्थक है और अगर वह प्रथम सदन से असहमत है तो दुष्ट है।

2. प्रभावी नियंत्रण नहीं : आलोचकों का कहना है कि विधानपरिषद के अधिकार इतने सीमित हैं कि वह विधानसभा के चाहने पर पारित हो ही जाएगा। विधानपरिषद साधारण विधेयक के संबंध में केवल चार महीने की देरी लगा सकती है। धन विधेयक के संबंध में परिषद केवल चौदह दिनों की देरी लगा सकती है। यह अवरोध एक औपचारिकता मात्र है।

3. सन्निहित हितों का दुर्ग : द्वितीय सदन के आलोचकों का कहना है कि यह सदन कुछ विशिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है तथा उनके हितों की रक्षा करता है। फलतः यह लोकप्रिय सदन द्वारा प्रस्तावित प्रगतिशील विधेयकों के मार्ग में रोड़ा अटकाता है।

4. पराजित सदस्यों को स्थान देना : संविधानसभा में यह व्यक्त किया गया था कि लोकप्रिय निर्वाचनों में पराजित व्यक्ति इस सदन में स्थान पा सकते हैं। यह प्रजातंत्र के लिए अस्वास्थ्यकर सांविधानिक परंपरा होगी। राज्यपाल द्वारा मनोनयन की व्यवस्था का भी सत्तारूढ़ दल दुरुपयोग कर सकता है और विशिष्ट ज्ञान के व्यक्तियों को स्थान न देकर पराजित व्यक्तियों को इस माध्यम से विधानपरिषद में स्थान दिया जा सकता है। इस आलोचना में सत्यता के अंश हैं। 1952 ई0 के चुनाव में पराजित होने पर मोरारजी देसाई को विधानपरिषद में स्थान देकर मुख्यमंत्री बनाया गया। इसी प्रकार, राजगोपालाचारी को विधानपरिषद का सदस्य बनाकर तमिलनाडु का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया। बिहार में बिंदेश्वरी प्रसाद मंडल विधानपरिषद का सदस्य बनकर मुख्यमंत्री (1963 ई0) नियुक्त हुए। विश्वनाथ प्रताप सिंह को भी उत्तरप्रदेश का मुख्यमंत्री (1980 ई0) बनने के लिए विधानपरिषद का सदस्य बनना पड़ा।

5. खर्चीली संस्था : द्वितीय सदन एक गरीब देश के लिए खर्चीला सदन है जो अनावश्यक है। राष्ट्रीय कोष पर यह एक अनुपयोगी खर्च है।

6. उपयोगिता संदेहपूर्ण : कई राज्यों ने (जैसे- उड़ीसा, असम और तमिलनाडु) द्वितीय सदन की स्थापना के विरुद्ध निर्णय लिया। संविधानसभा ने राज्य के द्वितीय सदन की व्यवस्था को राज्य की इच्छा पर आधृत कर द्वितीय सदन की उपयोगिता को संदेहपूर्ण बना दिया है।

7. दोषपूर्ण संगठन : संगठन के दृष्टिकोण से विधानपरिषद की आलोचना की गई है। प्रत्यक्ष निर्वाचन, अप्रत्यक्ष निर्वाचन तथा नामांकन की मिलीजुली पद्धति को अपनाकर इस सदन को भानुमती का कुनबा बना दिया गया है। कई प्रकार के प्रतिनिधियों के मिश्रण द्वारा संगठित होने के कारण यह सदन प्रभावपूर्ण तरीके से कार्य नहीं कर पाता है। नामांकन की प्रणाली के अंतर्गत विशिष्ट ज्ञानों के व्यक्तियों को नामांकित कर कभी कभी इस नाम पर पराजित

राजनीतिज्ञों को नामजद कर लिया जाता है।

पक्ष में तर्क : विधानपरिपद के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

1. जल्दबाजी में पारित विधेयक पर अवरोध : विधानपरिपद के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि विधानसभा द्वारा जल्दबाजी में पारित किए गए विधेयक पर यह नियंत्रण का कार्य करती है। अगर एक ही सदन द्वारा विधेयक को पारित किया जाए तो संभव है कि भावावेश या क्षणिक आवेश में अवांछनीय विधेयक पारित हो सकता है। अत: एक परिपक्व विधेयक के लिए आवश्यक है कि दोनों सदनों द्वारा इसपर आवश्यक विचार विमर्श किया जाए।

2. निम्न सदन की अधिनायकता पर रोक : द्वितीय सदन के समर्थकों का कहना है कि निम्न सदन को अगर अकेले छोड़ दिया जाए तो वह निश्चय ही एक अधिनयम के रूप में बरताव करने लगेगा। भारत जैसे देश में तो लोकप्रिय सदन द्वारा इस प्रकार का बर्ताव होना अवश्यंभावी ही है, क्योंकि अधिकांश मतदाता अशिक्षित हैं। अत: अगर प्रजातंत्र के अशिक्षित मतदाताओं के क्षणिक आवेशों तथा गलत कार्य से यह रक्षा करती है तो प्रथम सदन को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक है।

3. विशेष हितों तथा ज्ञानों का प्रतिनिधित्व : द्वितीय सदन में विशेष हितों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है, जैसे- शिक्षकों तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को। इसके अतिरिक्त बुजुर्ग तथा अनुभवी व्यक्तियों को भी सदस्यता प्राप्त होती है, क्योंकि वे आम चुनाव में भाग लेना उचित नहीं समझते। कला, साहित्य, विज्ञान आदि क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को भी विधानपरिषद में स्थान दिया जाता है। इन प्रतिनिधियों के कारण विधायिका का गठन तथा उसके कार्यो का स्तर ऊंचा होता जाता है।

4. उपयोगी अवरोध : विधानपरिषद के आलोचकों का कहना गलत है कि यह सदन विधानसभा के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा है। सच पूछा जाए तो यह किसी विधेयक के मार्ग में सिर्फ चार महीने की देरी लगा सकती है, उसे सदा के लिए समाप्त नहीं कर सकती है। इस प्रकार के विधेयक पर नियन्त्रण हेतु जनमत बनाने के लिए यह आवश्यक है।

5. निम्न सदन का भार हल्का करना : लोकप्रिय सदन राज्यकार्यो में वृद्धि के कारण कार्यभार से दबा रहता है। अत: उसके भार को हल्का करने के लिए यह आवश्यक है कि अविवादपूर्ण विषयों पर विधेयक दूसरे सदन में शुरू किए जांए तथा प्रथम सदन केवल महत्त्वपूर्ण विषयों पर ही पूर्ण समय दे। इस आवश्यकता को द्वितीय सदन ही पूरा कर सकता है।

6. किसी विधेयक पर पूर्णरूपेण विवाद संभव : निम्न सदन की तुलना में विधानपरिषद के सदस्य परिपक्व तथा अनुभवी होते हैं। अत: किसी विषय पर शांतिपूर्ण तथा पर्याप्त समय देकर विचार करते हैं। परिषद में राजनीतिक खींचातानी का वातावरण भी नहीं पाया जाता है। अत: वाद-विवाद का स्तर ऊंचा होता है तथा विधेयक पर हर प्रकार से विचार कर लिया जाता है।

14.2.3 निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विधानपरिषद के विरुद्ध कई महत्त्वपूर्ण तर्क दिए जाते हैं। फिर भी, इसकी उपयोगिता के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विधानपरिषद एक पूर्णत: अनावश्यक तथा अनुपयोगी सदन नहीं है। लेकिन आज हवा का रुख इसके खिलाफ है। प्रगतिशील विचारधाार के लोग इसके कट्टर विरोधी हैं, वामपंथी दल एक स्वर से इसे उठा देने के लिए आंदोलन कर रहे हैं। फलस्वरूप, पश्चिम बंगाल तथा पंजाब में द्वितीय सदन को समाप्त कर दिया गया। बिहार में मार्च 1970 में विधानसभा ने एक प्रस्ताव पारित कर विधानपरिषद को समाप्त कर देने की सिफारिश की, लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

14.2.4 विधानसभा एवं विधानपरिषद की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

विधानमंडलों में द्वितीय सदन की आवश्यकता के संबंध में विचारक सर हेनरी मेने ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं कि वस्तुत: द्वितीय सदन एक पुनरीक्षण संस्था है। संविधान द्वारा विधानसभा को विधानपरिषद के निर्माण एवं समाप्ति हेतु केन्द्रीय संसद से सिफारिश करने का अधिकार है। परन्तु जिन जिन राज्यों में द्वितीय सदन है वहां ये उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसका विशेष कारण यह है कि इस सदन को प्रदेश के सभी विषयों के विशेषज्ञों एवं विद्वानों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है जबकि विधानसभा के सदस्य क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के आधार पर आम जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं।

यदि विधानसभा और विधान परिषद की शक्तियों का तुलनात्मक विवेचन किया जाये तो यह प्रकट होता है कि विधान परिषद एक आलंकारिक सदन है :

1. साधारण विधेयकों के संबंध में : साधारण विधेयक विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। यदि विधानसभा द्वारा कोई विधायक पारित होने के बाद विधान परिषद द्वारा उसे स्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह बाद तक विधेयक पारित नहीं किया जाता या विधान सभा के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह बाद तक विधेयक पारित नहीं किया जाता या विधान परिषद ऐसे संशोधन पेश करे जिन्हें विधानसभा स्वीकार न करे, तो विधानसभा उस विधेयक को पुन: पारित करके परिषद को भेजती है। यदि परिषद पुन: उसको अस्वीकार करे, ऐसे संशोधन प्रस्तुत करे जो विधानसभा को स्वीकृत ने हों तथा यदि इस बीच एक माह का समय व्यतीत हो जाये, तो विधेयक (विधान परिषदकी अस्वीकृति के बाद भी) दोनों सदनों द्वारा पारित माना जायेगा। इस प्रकार विधान परिषद चार माह की देरी कर सकती है। विधेयक को रोक नहीं सकती।

2. कार्यपालिका पर नियंत्रण के संबंध में : विधानसभा ही कार्यपालिका को अपदस्थ कर सकती है। राज्य के मंत्रीगण विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। विधान परिषद केवल प्रश्न पूछ सकती है तथा मंत्रिपरिषद की आलोचना कर सकती है।

3. वित्तीय मामलों के संबंध में : वित्त विधेयक केवल विधानसभा में ही रखे जा सकते हैं। विधानसभा द्वारा पारित होने पर वित्त विधेयक विधान परिषद को भेजा जाता है। विधान परिषद 14 दिन के भीतर विधेयक वापस करती है। परिषद द्वारा सुझाये गये संशोधनों को स्वीकार या अस्वीकार करना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि 14 दिनों के भीतर परिषद वित्त विधेयक को नहीं लौटाती है, तब भी वह दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाएगा।

प्रो0 पायली के अनुसार, "इस प्रकार विधान परिषद को केवल निलम्बन का निषेधाधिकार ही प्राप्त है। साधारण विधेयकों को परिषद तीन मास तथा वित्त विधेयकों को एक मास के लिए रोक सकती है। इन उपबन्धों द्वारा विधानसभा का सर्वोपरि होना स्पष्ट हो जाता है।" यही नहीं विधानसभा परिषद को मिटा भी सकती है।

14.2.5 राज्य विधानमंडलों की शक्तियों की सीमायें या प्रतिबंध

संविधान के अनुसार राज्य विधानमंडलों की शक्तियों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये हैं :

1. कतिपय ऐसे विषय हैं जिन्हें राज्य सूची में समाविष्ट किया गया है परन्तु उनपर राज्यों के विधानमंडल उस समय तक कानूनों का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि उन पर भारत के राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त न हो जाय।
2. कतिपय ऐसे विषय हैं जिन पर राज्य विधानमंडल कानूनों का निर्माण कर सकता है, परन्तु उन्हें राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजता है।
3. संकटकालीन अवसरों पर संघीय राज्य सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है।

4. समवर्ती सूची के विषयों पर राज्य विधानमंडल कानून बना सकता है परन्तु यदि वह संसद के किसी भी कानून के विरोध में है तो ऐसी स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य रहेगा।
5. यदि किन्हीं कारणों से राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति राज्य विधानसभा को भंग कर सकते हैं ताकि नये चुनावों की व्यवस्था की जा सके।
6. राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के किसी भी विषय को केन्द्रीय संसद को सौंप सकती है। ऐसे विषय पर केन्द्रीय संसद एक वर्ष तक कानूनों का निर्माण कर सकती है और इस अवधि में वृद्धि भी की जा सकती है।

14.3 सारांश

जैसा कि हम जानते हैं कि भारत में स्थानीय शासन प्रणाली है। अत: राज्यों को संविधान की सीमाओं के अंतर्गत कानून निर्माण संबंधी शक्तियां प्रदान की गई हैं जिसका उपयोग राज्य अपने विधान मंडलों की सहायता से करते हैं। मूल रूप से संविधान कानून निर्मात्री शक्तियों को तीन (3) सूची में बांटता है :

(क) केन्द्र सूची

(ख) राज्य सूची

(ग) समवर्ती सूची

जैसा कि सूचियों के नाम से स्पष्ट है, केन्द्र अपने केन्द्रीय सूची के विषयों पर राज्य अपनी सूची के विषयों पर कानून निर्माण संबंधी अधिकार रखता है तथा समवर्ती सूची पर राज्य एवं केन्द्र अपने दोनों कानून बना सकता है। लेकिन विवाद की स्थिति में केंद्रीय कानून का वर्चस्व रहेगा।

व्यवहार में राज्य विधान सभाओं की शक्तियों एवं स्थिति में दिन प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। अधिकतर राज्यों में सत्र मात्र संवैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बुलाया जाता है।

वाद विवाद का स्तर इतना गिर गया है कि आये दिन अखबारों या अन्य मीडिया में उसकी चर्चा होती है। सदनों में उपस्थिति नगण्य रहती है। विधायक स्थानान्तरण, सिफारिश आदि कामों में व्यस्त रहते हैं। कई विधायक तो फौजदारी मामलों में भी लिप्त हैं। बिहार, झारखण्ड, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश आदि राज्यों में इनकी सूँची काफी लंबी है।

दूसरी ओर राजनीतिक प्रतिद्वंदिता के कारण भी बिना किसी खास औचित्य के राज्यों के विधानमंडलों का विधान होते आए हैं जिसकी शुरूआत 1977 में जनता पाटी के सरकार ने की थी और कांग्रेस ने भी इसे बार बार दुहराया।

संघीय व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण के लिए आवश्यक है राज्य विधानमंडलों को मजबूत किया जाये। पश्चिम बंगाल, बिहार एवं आंध्र प्रदेश की सरकार इसकी हिमायती हैं। हालांकि संविद शासन की यह मजबूरी होती आ रही है।

14.4 कुंजी शब्द

1. साधारण विधेयक
2. धन विधयेक
3. राज्यपाल स्वीकृति

14.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विधानसभा के गठन अधिकार तथा कृत्यों का वर्णन करें।

उत्तर- (13.2, 13.2.4)

2. राज्य विधानमण्डल में विधेयक पारित करने की प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।

उत्तर- (13.2.2, 13.2.4)

3. विधान परिषद के गठन अधिकार तथा कार्यो का वर्णन कीजिए।

उत्तर- (14.2, 14.2.3)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

4. विधान मण्डल के दोनों सदनों में क्या संबंध है?

उत्तर- (14.2.4)

5. विधानमण्डल की शक्तियों पर लगाये गए प्रतिबंधों का उल्लेख करें।

उत्तर- (13.2.3)

14.6 अभ्यास हेतु पुस्तक

1. शासन एवं राजनीति	:	डॉ0 पुखराज जैन, डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया
2. विश्व के प्रमुख सरकारें	:	पुखराज जैन
3. भारतीय शासन	:	बीरकेश्वर प्रसाद

❖❖❖

राज्यपाल

पाठ संरचना

15.0 भूमिका

15.1 उद्देश्य

15.2 नियुक्ति

15.2.1 राज्यपाल की शक्तियां

15.2.2 राज्यपाल की स्थिति

15.2.3 राज्यपाल केन्द्र प्रतिनिधि

15.2.4 निष्कर्ष

15.3 सारांश

15.4 कुंजी शब्द

15.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

15.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

(अनुच्छेद 153–168)

15.0 भूमिका

राज्य की कार्यपालिका में राज्यपाल और एक मन्त्रिपरिषद होती है। संविधान के द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है और इस संसदात्मक व्यवस्था मे राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है जबकि मन्त्रिपरिषद राज्य की कार्यपालिका सत्ता की वास्तविक प्रधान होती है।

नेहरू युग में राज्य में राज्यपाल का पद "गाड़ी के पांचवे पहिये" के समान बनकर रह गया था। इसी कारण से एक भूतपूर्व राज्यपाल फजा नायडू ने कहा भी था कि "राज्यपाल सोने के पिंजड़े में निवास करने वाली चिड़िया के समतुल्य है। "मध्य प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल पट्टाभीसीतारमैया के अनुसार, "राज्यपाल का कार्य मेहमानों की

इज्जत करने, उनको चाय, भोजन तथा दावत देने के अलावा कुछ नहीं।" श्री प्रकाश जैसे अनुभवी राज्यपाल ने भी कहा था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि संवैधानिक राज्यपाल के रूप में निर्धारित स्थान पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई कार्य नहीं है।" उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल एच0 पी0 मोदी ने बताया कि "कार्यों के अभाव में मैंने अपने तथा अपने कर्मचारियों के लिए कार्यों का सृजन किया।" एक राज्यपाल ने तो यहां तक कहा कि "वे नहीं जानते थे कि राष्ट्रपति को पाक्षिक प्रतिवेदन में क्या भेजना चाहिए।" पश्चिम बंगाल के राज्यपाल डॉ0 एच0 सी0 मुखर्जी तो "कलकत्ता के राजभवन" में इतने "बोर" हो गये कि पदमुक्ति के लिए कुछ ही महीनों में पण्डित नेहरू से विनम्र प्रार्थना करने लगे।

15.1 उद्देश्य

चौथे आम चुनाव के बाद यह मत जोर पकड़ने लगा कि "पांचवां पहिया होने के बजाय राज्यपाल का प्रतिष्ठित पद परम श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और एक वैधानिक आवश्यकता है।" अब राज्यपाल का पद आभूषणवत् नहीं रह गया था। बदले हुए राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उसे "एक नयी भूमिका" अदा करनी थी। राज्यपाल की इस "भूमिका परिवर्तन के कई कारण थे- प्रथम, मुख्यमन्त्रियों के दुर्बल व्यक्तित्व, द्वितीय, एकदलीय बहुमत के बावजूद राज्य स्तर पर पायी जाने वाली दल के भीतर की गुटीय सजनीति, तृतीय, दल बदल की प्रवृत्ति और अस्थिरता, चतुर्थ, राज्यों में प्रादेशिक दलों का शक्तिशाली होना।

राज्यपाल की भूमिका पर इस आधार पर आक्षेप लगाया गया कि कुछ राज्यपाल निष्पक्षता और दूरदर्शिता जिसकी उनसे अपेक्षा की गई थी, के गुणों को प्रदर्शित नहीं कर पाये। कुछ राज्यपालों द्वारा विशेष रूप से राष्ट्रपति शासन की सिफारिश में और राष्ट्रपति के विचार के लिए राज्य विधेयक को आरक्षित रखने में निभाई गई भूमिका से जबरदस्त विद्वेष उत्पन्न हुआ। राज्यपालों को अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही बार बार हटाने तथा स्थानान्तरण से इस पद की गरिमा कम हो गई। इस बात की आलोचना भी की गई है कि संघ सरकार अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्यपालों को प्रयोग में लाती है। बहुत से राज्यपाल, जो कि संघ के अधीन अपने पद को बढ़वाने के लिए इच्छुक होते हैं या अपनी सेवा अवधि के बाद राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाना चाहते हैं, स्वयं को केन्द्र के एजेन्ट के रूप में समझते आये हैं।

डॉ0 इकबाल नारायण के शब्दों में, संवैधानिक क्षमता के न्यायिक दृष्टिकोण से ही राज्यपाल की भूमिका पर विचार करना पर्याप्त नहीं है। आवश्यक यह है कि राजनीतिक व्यवस्था की प्रामाणिकता पर पड़े उनके व्यवहार एवं कार्यों के व्यापक प्रभावों का मूल्यांकन किया जाय।"

राज्यपाल की नियुक्ति संघ की कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपना पद धारण करता है। राज्यपाल की नियुक्ति पांच वर्ष के लिए की जायेगी लेकिन वह अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने तक अपने पद पर बना रहेगा।

15.2 नियुक्ति

राज्यपाल पद के संबंध में संविधान सभा की प्रान्तीय संविधान समिति ने सुझाव दिया था कि राज्यपाल का सर्वसाधारण जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव किया जाना चाहिए। यह विचार उनकी इस धारणा के अनुकूल था कि प्रत्येक राज्य को संघ की इकाई होने के नाते अधिक स्वायत्तता की स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। इसके बाद राज्यपाल के संबंध में दो अन्य सुझाव दिये गये। प्रथम, राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन या दोनों सदनों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर राज्यपाल का निर्वाचन किया जाय और द्वितीय, निम्न सदन (राज्य की विधानसभा) द्वारा चार नामों का सुझाव दिया जाय जिनमें से किसी एक को राष्ट्रपति के द्वारा राज्यपाल के पद पर

नियुक्त किया जाए। इन तीनों ही सुझावों को अस्वीकार करते हुए संविधान सभा ने राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति को अपनाया। एक निर्वाचित राज्यपाल के स्थान पर मनोनीत राज्यपाल को अपनाने के निम्न कारण थे।

1. संविधान में संघ और राज्यों के लिए संसदीय व्यवस्था को अपनाया गया था और एक निर्वाचित राज्यपाल तथा संसदीय शासन व्यवस्था परस्पर मेल नहीं खाते।
2. राज्यपाल का प्रत्यक्ष निर्वाचन सामान्य निर्वाचन के समय नेतृत्व की कठिन समस्या पैदा कर देगा।
3. यदि राज्यपाल जनता द्वारा निर्वाचित न होकर विधानमंडल द्वारा निर्वाचित हो, तो मन्त्रिमण्डल तथा राज्यपाल में परस्पर स्पर्द्धा उत्पन्न होने की संभावना तो कम हो जाती है, किन्तु इस व्यवस्था में एक और गंभीर दोष है। इस बात की आशंका है कि राज्यपाल के निर्वाचन में जो दल सहायक होंगे, राज्यपाल उनके हाथों में कठपुतली बनकर रह जायेगा।
5. सभा के कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था कि राज्य विधानमण्डल द्वारा प्रस्तुत सूची में राष्ट्रपति ऐसे राज्यपाल को नियुक्त कर. इसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि नामों को चुनने में विधानमण्डल गुटबन्दी के आधार पर कार्य करेगा और इस प्रकार से पद प्राप्त करने वाला राज्यपाल राज्य के सभी राजनीतिक वर्गों से सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकेगा।

राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कनाडा के संविधान का अनुकरण किया गया है, जहां राज्यपालों की नियुक्ति गवर्नर जनरल के द्वारा होती है।

राज्यपाल की नियुक्ति की इस पद्धति की आलोचना भी की गयी और इस प्रकार की आलोचना के प्रमुख रूप से दो आधार हैं :

(1) संविधान के अन्तर्गत जिस समय यह व्यवस्था की गयी थी, उस समय यह सोचा गया था कि राज्यपाल प्रमुख रूप से अपने राज्य के संवैधानिक प्रधान और गौण रूप से राज्य में संघीय सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करेगा, किन्तु व्यवहार में राज्यपाल ने संघीय सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में ही अधिक कार्य किया है।

(2) आलोचकों का यह भी कहना है कि जब केन्द्र और राज्यों में अलग अलग राजनीतिक दलों की सरकारें होंगी उस समय राज्यपाल और मुख्यमन्त्रियों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। 1967-71 तथा 1996-98 के काल में इस प्रकार की स्थिति अनेक राज्यों में देखी गई है।

तमिलनाडु सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार समिति को राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में प्रमुखतया दो सुझाव दिये : प्रथम, राज्यपाल की नियुक्ति को अन्तिम रूप देने के पूर्व केन्द्रीय सरकार को संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श करने की परंपरा को जारी रखा जाना चाहिए। राज्यपाल न केवल केन्द्रीय सरकार का मनोनीत व्यक्ति वरन संबद्ध राज्य का भी मान्य व्यक्ति होगा। द्वितीय, समिति का सुझाव था कि संविधान में ऐसी व्यवस्था की जाय कि राष्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति प्रख्यात न्याय शास्त्रियों, वकीलों और प्रशासकों की समिति के परामर्श पर करें। संविधान लागू होने के समय से लेकर अब तक राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कुछ परंपराएँ भी बन गयीं हैं जो इस प्रकार हैं :

1. एक राज्य में किसी अन्य राज्य के निवासी के ही राज्यपाल नियुक्त किया जाता है, उस राज्य के निवासी को नहीं। इस परंपरा से दो लाभ हुए हैं : प्रथम, वह उस राज्य की दलबन्दियों और गुटबन्दियों से परे होता है एवं निष्पक्ष अध्यक्ष और निर्णायक का कार्य अधिक अच्छी प्रकार से कर सकता है। द्वितीय राज्य का निवासी मन्त्रिमण्डल कभी संकीर्ण प्रान्तीयतावाद के दृष्टिकोण को अपना सकता है, राज्य के बाहर का निवासी राज्यपाल संकीर्ण प्रांतीयतावाद के दृष्टिकोण से ऊपर उठकर समस्त भारत के हितों की दृष्टि से सोच सकता और कार्य कर सकता है।

2. केन्द्रीय सरकार के द्वारा साधारणतया राज्यपाल के रूप में ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है जो कि संबंधित राज्य के मन्त्रिमण्डल को मान्य हो। नियुक्ति के पूर्व संघीय सरकार संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श ले लेती थी। इन सभी परिस्थितियों के प्रसंग में सरकारिया आयोग का सुझाव है कि संविधान के अनुच्छेद 155 में संशोधन कर राज्यपाल के बारे में संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री के साथ विचार विमर्श की व्यवस्था को अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।
3. एक अस्वस्थ परंपरा बन रही है कि निर्वाचन में पराजित और अन्य प्रकार से अस्वीकार्य सत्तारूढ़ दल के राजनीतिज्ञों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है। स्वस्थ प्रजातन्त्र के हित में इस प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया जाना चाहिए। सरकारिया आयोग के अनुसार राज्यपाल के पद पर ऐसे ही व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए, जिन्हें किसी क्षेत्र में जानी मानी हस्ती होने की ख्याति प्राप्त हो। इसके साथ ही राज्य की राजनीति में उसका सक्रिय भाग नहीं होना चाहिए।
4. प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया था कि किसी भी व्यक्ति को एक ही बार राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। मन्त्रिपरिषद सचिवालय ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया था। सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने कहा कि "किसी राज्यपाल को उसका कार्यकाल समाप्त हो जाने के बाद सामान्य तौर पर फिर से नियुक्त नहीं किया जाएगा।" श्रीमती गांधी के इस वक्तत्व के बाद भी व्यवहार में ऐसी किसी परम्परा को नहीं अपनाया गया।

भारतीय राज व्यवस्था में राज्यपाल पद की विशिष्ट स्थिति और अब तक की भारतीय राजनीति को दृष्टि में रखते हुए इस पद पर नियुक्ति के संबंध में कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं : ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाना चाहिए, जिसका व्यक्तित्व और आचरण अनुकरणीय हो। द्वितीय, राज्यपाल की नियुक्ति दलगत राजनीति से ऊपर उठकर की जानी चाहिए। तृतीय, राज्यपाल पद पर निर्वाचन में पराजित व्यक्तियों को नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। चतुर्थ, राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में यथासंभव संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री की इच्छा का सम्मान किया जाना चाहिए। पंचम, किसी भी व्यक्ति को एक ही बार राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। इसके साथ ही राज्यपालों के मनमाने तौर पर स्थानान्तरण नहीं किये जाने चाहिए, क्योंकि इससे राज्यपाल पद की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचता है।

सरकारिया आयोग ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है- राज्यपाल के रूप में चुने जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित मानदण्डों पर खरा उतरना चाहिए :

1. वह कुछ व्यवसायों में दक्ष हो।
2. वह राज्य के बाहर का व्यक्ति हो।
3. वह असंपृक्त व्यक्ति हो तथा राज्य की स्थानीय राजनीति के साथ अधिक आत्मीयता से न पड़ा हो।
4. वह ऐसा व्यक्ति हो जिसने सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से हाल ही की पिछली राजनीति में अत्यधिक मुख्य रूप से भाग न लिया हो।

   उपर्युक्त मानदण्ड के अनुसार किसी राज्यपाल का चयन करते समय अल्पसंख्यक वर्ग के व्यक्तियों को उसी प्रकार अवसर दिये जाते रहे जिस प्रकार अब तक दिये जाते हैं।
5. राज्यपाल के रूप में किसी व्यक्ति का चयन करने के लिए राज्य के मुख्यमंत्री से प्रभावी सलाह मशवरा सुनिश्चित करने की प्रक्रिया अनुच्छेद 153 में समुचित संशोधन करके संविधान में ही निर्धारित की जानी चाहिए।
6. यह वांछनीय होगा कि ऐसे किसी व्यक्ति को ऐसे राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त न किया जांय जो केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी की राजनीति का हो, जिस राज्य का शासन किसी अन्य पार्टी द्वारा चलाया जा रहा है अथवा अन्य पार्टियों के मेलजोल से चलाया जा रहा हो।

राज्यपाल नियुक्त होने के लिए योग्यताएँ : संविधान के अनुच्छेद 157 के अनुसार कोई व्यक्ति राज्यपाल

नियुक्त होने का पात्र नहीं होगा जब तक वह भारत का नागरिक न हो तथा 35 वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। अनुच्छेद 158 में राज्य के राज्यपाल पद के लिए कुछ शर्तो का भी उल्लेख है, जो निम्न हैं :

1. राज्यपाल संसद अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो संसद अथवा राज्य के विधानमण्डल का सदस्य हो तो उसके राज्यपाल नियुक्त हो जाने पर यह समझा जायेगा कि जिस दिन से उसने राज्यपाल का पद ग्रहण किया, उस दिन से संसद अथवा राज्य के विधानमण्डल से उसका पद रिक्त हो गया है।
2. राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा।
3. राज्यपाल को नि: शुल्क निवास-स्थान मिलेगा तथा उसे वे सब वेतन भत्ते, उपलब्धियां तथा विशेषाधिकार प्राप्त होंगे, जिन्हें संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। वर्तमान समय में राज्यपाल को 36,000रु (1998 अधिनियम) मासिक दिया जाता है। उसके वेतन तथा भत्तों में उसके कार्यकाल में कोई अलाभकारी परिवर्तन न होगा। उसके वेतन तथा भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होने के कारण "मत निरपेक्ष" है।

अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल को उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सामने शपथ लेनी होती है जिसमें वह प्रतिज्ञा करता है कि वह राज्यपाल का कार्यपालन श्रद्धापूर्वक कर सकेगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान तथा विधि का परीक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करेगा तथा राज्य की जनता की सेवा और कल्याण में लगा रहेगा।

संविधान के अनुसार एक ही व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल भी नियुक्त किया जा सकता है। 1972 में उत्तर पूर्वी क्षेत्र पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार उत्तर पूर्वी क्षेत्र के पांच राज्यों- असम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय के लिए एक ही राज्यपाल नियुक्त किया गया था।

15.2.1 शक्तियाँ

संविधान के द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त व्यापक शक्तियां प्रदान की गयी हैं। राज्यों में राज्यपाल की वही स्थिति है, जो राष्ट्रपति की केन्द्र में। अत: दोनों की शक्तियों में कुछ क्षेत्रों को छोड़कर बहुत समानता है। श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में, "राज्यपाल की शक्तियां राष्ट्रपति के समान हैं, सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर।" राज्यापाल की शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

1. कार्यपालिका शक्तियां : राज्य की कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल में निहित हैं जिन्हें वह स्वयं या अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा सम्पादित करता है। वह मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की। वह महाधिवक्ता, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा इसके सदस्यों की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में उससे परामर्श लिया जाता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियां राज्य सूची में उल्लिखित विषयों से संबंधित हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के अन्तर्गत वह अपने अधिकार का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के संबंध में वह नियमों का निर्माण करता है। वह मन्त्रियों के बीच कार्यों का वितरण भी करता है। उसे मुख्यमंत्री से किसी भी प्रकार की सूचना मांगने का अधिकार है। राज्य के मुख्यमंत्री का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णयों से अवगत कराये। वह मुख्यमंत्री को किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचार के लिए रखने को कह सकता है।

2. विधायी शक्तियाँ : राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का अविभाज्य अंग होता है। वह व्यवस्थापिका के अधिवेशन बुलाता है और स्थगित करता है और वह व्यवस्थापिका के निम्न सदन को विघटित भी कर सकता है। महानिर्वाचन के बाद विधानमण्डल की पहली बैठक में वह एक या दोनों सदनों को किसी विधेयक के संबंध

में सन्देश भेज सकता है।

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर उसकी स्वीकृति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता, या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। अगर विधानमण्डल दूसरी बार विधेयक पारित कर देता है तो राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही होगी। वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भी सुरक्षित रख सकता है। उदाहरण के लिए, वे विधेयक जो सम्पत्ति के अनिवार्य रूप से हस्तगत करने या उच्च न्यायालय की शक्ति में कमी से संबंधित हों, राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए संरक्षित किये जा सकते हैं।

राज्यपाल आवश्यकता पड़ने पर विधानमण्डल की बैठक के बीच की अवधि में अध्यादेश जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों का वही बल तथा प्रभाव होता है जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम का होता है। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक प्रारंभ होने के 6 सप्ताह बाद तक क्रियाशील रहता है। यदि 6 सप्ताह के पहले ही विधानमण्डल उस अध्यादेश को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पास कर दे तो ऐसी स्थिति में अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जायेगा। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध है। वह राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई ऐसा अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है, जिस प्रकार का विधेयक विधानसभा में पेश करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती या उस प्रकार के विधेयक पर राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा विचार होना आवश्यक समझता या यदि विधानमण्डल का उसी प्रकार का कानून राष्ट्रपति द्वारा विचार करने के लिए रोका जाता और राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर वह अमान्य समझा जाता।

वह राज्य विधानपरिषद के सदस्यों को ऐसे लोगों में से नामजद करता है जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्रों में विशेष तथा व्यावहारिक ज्ञान हो। अगर वह ऐसा समझे कि विधानसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है, तो वह इस वर्ग के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार राज्यपाल को विधायी क्षेत्र में भी व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं।

3. वित्तीय शक्तियाँ : राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त हैं। राज्य विधानसभा में राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी धन विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। वह व्यवस्थापिक के समक्ष प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत करवाता है तथा उसकी सिफारिश के बिना कोई भी अनुदान की मांग नहीं की जा सकती है। राज्यपाल विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदान की भी मांग कर सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है तथा विधानमण्डल से स्वीकृति की अपेक्षा में वह इस निधि से किसी प्रकार के व्यय की अनुमति दे सकता है।

न्यायिक शक्तियाँ : संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है उनसे संबंधित किसी विधि के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, बदल सकता है तथा क्षमा भी कर सकता है।

विविध शक्तियाँ : उपर्युक्त के अतिरिक्त राज्यपाल को अन्य अनेक शक्तियां भी प्राप्त हैं :

1. वह राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन और राज्य की आय-व्यय के संबंध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।
2. अगर वह देखता है कि राज्य के प्रशासन संविधान के अनुसार चलना संभव नहीं है तो वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक यन्त्र की विफलता के संबंध में सूचना देता है और उसके प्रतिवेदन पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य के अन्दर राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करता है।
3. संविधान के द्वारा किन्हीं राज्यों के राज्यपालों को कुछ विशेष कार्यों के संबंध में स्वविवेकीय शक्तियाँ भी प्रदान की गयी हैं। नागालैंड, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम, मेघालय और त्रिपुरा के

राज्यपालों को अपने विवेक पर विशिष्ट कार्य कार्यान्वित करने के लिए सौंपे गये हैं।

15.2.2 राज्यपाल की स्थिति

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका के संबंध में सामान्य तौर पर परस्पर दो विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। इनमें से प्रथम में राज्यपाल को राज्य का केवल संवैधानिक अध्यक्ष माना गया है, लेकिन द्वितीय में इस बात पर बल दिया गया है कि राज्य के प्रशासन में राज्याल की भूमिका एक संवैधानिक अध्यक्ष की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्यपाल की स्थिति सही रूप से समझने के लिए इन दोनों दृष्टिकोण का अध्ययन उचित होगा।

(i) राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में : संविधान के अनुच्छेद 163(i) के अनुसार, "जिन बातों में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी।" संविधान राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियां का विशेष रूप से उल्लेख नहीं करता। केवल असम, अरुणाचल, मिजोरम, सिक्किम, मेघालय, त्रिपुरा और नागालैंड के राज्यपाल को ही इस प्रकार की कुछ स्वविवेकी शक्तियां वास्तविक नहीं हैं। श्री ए॰ के॰ अय्यर ने कहा कि राज्यपाल केवल एक संवैधानिक अध्यक्ष ही है। संविधान निर्माताओं द्वारा जिस प्रकार से राज्यपाल पद के संबंध में निर्वाचन के सिद्धांत को अस्वीकार करके मनोनयन के सिद्धांत को अपनाया गया, उसके स्पष्ट हो जाता है कि वे राज्यपाल को एक संवैधानिक अध्यक्ष ही बनाना चाहते थे, वास्तविक प्रधान नहीं।

प्रथम दृष्टिकोण को केवल एक संवैधानिक प्रधान बतलाया गया है, लेकिन यदि राज्यपाल की स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया जाय, तो यह धारणा असत्य हो जाती है। राज्यपाल को एक संवैधानिक अध्यक्ष मात्र मानना भूल होगी। वास्तव में, वह एक संवैधानिक अध्यक्ष तो है ही, इससे अधिक भी कुछ है। इस दृष्टि से हमारे द्वारा राज्यपाल पद का अध्ययन दो रूपों में किया जाना चाहिए। प्रथम, संविधान निर्माता राज्यपाल को क्या भूमिका देना चाहते थे? द्वितीय, राज्यपाल पदधारी व्यक्तियों ने विविध परिस्थितियों में क्या भूमिका निभायी है?

संविधान सभा के वाद विवादों के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माताओं की धारणा के अनुसार सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा, लेकिन विशेष परिस्थितियों में उसकी भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है। श्री एम॰ वी॰ पायली के अनुसार, "राज्यपाल मन्त्रिमण्डल का सूझ बूझ वाला परामर्शदाता है जो राज्य की अशान्ति राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।" श्री के॰ एम॰ मुन्शी स्वीकार करते हैं कि "कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल द्वारा बहुत अधिक हितकारी और प्रभावशाली रूप में कार्य किया जा सकता है।" श्री दुर्गादास बसु और एम0 सी0 सीतलवाड ने अपनी रचनाओं में राज्यपाल के कुछ स्वविवेकी कार्यों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति : राज्यपाल का पहला कार्य मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करना है। राज्य की विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और बहुमत वाले राजनीतिक दल ने अपना नेता चुन लिया है, तो राज्यपाल के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह उसी व्यक्ति को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त करे, लेकिन यदि राज्य की विधानसभा में दलीय स्थिति स्पष्ट नहीं है या बहुमत वाले दल में नेता पद के लिए एक से अधिक दावेदार हैं, तो इस संबंध में राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्यपाल के द्वारा ही निर्णय किया जायेगा कि किसी व्यक्ति के नेतृत्त्व में स्थायी सरकार का गठन हो सकता है। फरवरी 1998 में मेघालय के राज्यपाल एम0 एम0 जैकब ने सबसे बड़े दल के नेता होने के कारण कांग्रेस के एम0 मारक को सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया, जबकि यू0 डी0 पी0 विधायक दल के नेता बी0 बी0 लिंगदेह ने भी राज्यपाल से भेंट कर सरकार बनाने का दावा किया था।

राज्यपाल को यह भी स्वविवेक शक्ति प्राप्त है कि वह मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ कर राष्ट्रपति से सिफारिश करे कि संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाय। राज्यपाल के द्वारा प्रमुखत: निम्न परिस्थितियों में मन्त्रिमण्डल को भंग किया जा सकता है :

1. यदि राज्यपाल को विश्वास हो जाय कि मन्त्रिमण्डल का विधानसभा में बहुमत समाप्त हो गया है तो राज्यपाल मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र देने या विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत प्रमाणित करने के लिए कह सकता है।
2. यदि किसी मन्त्रिमण्डल के प्रति विधानसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाने पर मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र न दे तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है।
3. यदि मन्त्रिमण्डल संविधान के अनुसार कार्य न कर रहा हो या उसकी नीतियों से राज्य या देश को खतरा हो या उसके द्वारा केन्द्र और राज्य में संघर्ष की स्थिति का जन्म दिया जा रहा हो, तब भी मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।
4. यदि स्वतन्त्र ट्रिब्यूनल द्वारा मुख्यमंत्री को भ्रष्टाचार के आरोप में दोषी घोषित किया गया हो तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है।

सामान्य रूप से राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधानसभा का अधिवेशन बुलाता है किन्तु असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से भी विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है। यदि राज्यपाल के अनुसार कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण मामले हैं, जिन पर तुरन्त विचार किया जाना चाहिए, तो अनुच्छेद 174 के अन्तर्गत वह विधानमण्डल के अधिवेशन की कोई भी तिथि निश्चित कर सकता है। इस संबंध में वह मुख्यमन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है चाहे मुख्यमंत्री को विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। श्री संथानम और अन्य कुछ विद्वानों के द्वारा ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है।

उत्तरदायी शासन की धारणा के अनुसार सामान्यतया यह माना जाता है कि विधानसभा को भंग करने का कार्य राज्यपाल उसी समय करेगा, जबकि मुख्यमंत्री उन्हें ऐसा करने के लिए परामर्श दे, लेकिन विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल विधानसभा भंग करने के संबंध में मुख्यमंत्री के परामर्श को मानने से इन्कार कर सकता है या मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना ही विधानसभा भंग कर सकता है।

इसके अलावा भी राज्यपाल के द्वारा स्वविवेक से कुछ कार्य किये जा सकते हैं। वह मुख्यमन्त्री से किसी विषय में सूचना मांग सकता है, वह मुख्यमन्त्री से कह सकता है कि वह किसी ऐसे मामले को, जिस पर किसी मन्त्री ने अकेले निर्णय कर लिया हो, समस्त मन्त्रिपरिषद के सामने रखे। विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक वह पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है या राष्ट्रपति के पास विचार के लिए भेज सकता है। 1957 में केरल के राज्यपाल द्वारा केरल शिक्षा विधेयक राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा गया था और इस संबंध में मुख्यमंत्री से कोई परामर्श नहीं लिया गया था।

इन सब बातों से यह नितान्त स्पष्ट है कि यद्यपि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसके साथ ही "वह केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं। वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्त्वपूर्ण रूप से भाग ले सकता है।"

5.2.3 केन्द्र प्रतिनिधि

राज्यपाल, केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में : भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल की दोहरी भूमिका है। प्रथमत: वह राज्य का प्रधान है और द्वितीय, वह राज्य में संघीय सरकार का अभिकर्त्ता या प्रतिनिधि है। संविधान निर्माता भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें सहयोगी संघवाद की धारणा के

आधार पर केन्द्र और राज्य में सद्भावनापूर्ण संबंध स्थापित हो सके और प्रशासनिक एकरूपता तथा राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके, और उनके द्वारा राज्यपाल के पद की व्यवस्था इस लक्ष्य की पूर्ति के साधन के रूप में की गयी है।

1. भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच सदभावनापूर्ण संबंध स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया और अनुच्छेद 256 तथा 257 में कहा गया है कि इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार राज्यों की कार्यपालिकाओं को आवश्यक निर्देश दे सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को राष्ट्रीय महत्त्व की सड़कों तथा संचार साधनों की रक्षा का भार सौंपा जा सकता है। और अनुच्छेद 258 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार अपने कुछ प्रशासनिक कार्य भी राज्य सरकार को हस्तान्तरित कर सकती है। यदि राज्य मन्त्रिमण्डल केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार कार्य नहीं करता है तो राज्यपाल मन्त्रिमण्डल को चेतावनी दे सकता है तथा इसे संविधान के विरुद्ध कार्य मानकर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संवैधानिक संकट की रिपोर्ट दे सकता है।
2. केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य के प्रशासन के संबंध में समय समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना है, जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल राष्ट्रपति को इस प्रकार की रिपोर्ट स्वविवेक से ही भेजता है और इस संबंध में वह राज्य मन्त्रिमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है।
3. अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किये गये किसी विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर सकता है।
4. अनुच्छेद 213 के अनुसार, राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है, किन्तु उसे कुछ विषयों के संबंध में अध्यादेश जारी करने के पूर्व राष्ट्रपति से स्वीकृति लेनी होती है। इन सबके अलावा राज्यपाल केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखता है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयतावाद को न अपनाकर समस्त संघ के हितों को ध्यान में रखे। 19-20 मार्च, 1976 के राज्यपाल सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने कहा था कि, "संकीर्ण प्रान्तीयतावाद पर विजय प्राप्त करने में राज्यपाल की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है।"

विरोधी दल सामान्य रूप से यह शिकायत करते रहे हैं कि केन्द्र का शासक दल राज्यपाल पद का उपयोग अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करता है। श्री इकबाल नारायण के अनुसार, "उसे राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों को गिराने के लिए केन्द्र के कथित षड्यन्त्र के तन्त्र के रूप में देखा गया है।"

अक्टूबर 1996 में विधानसभा चुनावों के बाद सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी भाजपा को सरकार बनाने का निमन्त्रण न देकर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने 18 अक्टूबर 1977 को कल्याणसिंह सरकार से मायावती ने समर्थन वापस लिया तो राज्यपाल भण्डारी ने 21 अक्टूबर को सदन में कल्याण सिंह द्वारा बहुमत सिद्ध कर दिये जाने के बावजूद राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश कर दी गई।

उपर्युक्त स्थितियाँ न तो राज्यपाल पद के हित में है और न ही भारतीय राजव्यवस्था के हित में।

जहां तक राज्यपाल की संवैधानिक प्रतिष्ठा और केन्द्र से उसके संबंधों का सवाल है, वर्ष 1979 में रघुकुल तिलक के मामले में उच्चतम न्यायालय का फैसला एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उच्चतम न्यायालय ने कहा, "इसमें कोई शक नहीं कि राज्यपाल का मनोनयन राष्ट्रपति करता है अर्थात प्रभाव और वास्तविकता में भारत सरकार करती है, लेकिन यह नियुक्ति का तरीका मात्र है और इससे राज्यपाल भारत सरकार का कर्मचारी या नौकर नहीं बनता।"

"राज्यपाल का पद भारत सरकार का अधीनस्थ या जी हुजूरिया नहीं है। वह न भारत सरकार के निर्देशों के अधीन है और न ही अपने काम करने या दायित्व निर्वहन के तरीके के लिए उसके प्रति जवाबदेह है। वह स्वतन्त्र

संवैधानिक पद है जो भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन नहीं है।

15.2.4 निष्कर्ष

राज्यपाल के कार्य एक साथ विविध और महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्य समय में राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में और केन्द्र एवं राज्य के मध्य महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करते हुए तथा कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में जबकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत उदघोषणा की जाय, राज्यपाल संघ का एजेन्ट बन जाता है, वह रिक्त स्थान को भरता है और उस थोड़ी अवधि में भी, जबकि उसे सहायता देने और परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद उपलब्ध नहीं रहती कार्यपालक सरकार की निरन्तरता को सुनिश्चित करता है। राज्यपाल संविधान द्वारा पारित कल्पित व्यवस्था का प्रमुख अधिकारी है। कोई भी दूसरा संवैधानिक अधिकारी अपने कर्त्तव्यों के अतिरिक्त इन उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं कर सकता। संक्षेप में, यह ऐसा पद है जिसके बिना राज्य शासन में काम नहीं चल सकता।

आज कुछ स्थिति ऐसी बन गई है कि राज्यपाल पद के लिए दो ही विकल्प बचे हैं- या तो इसे समाप्त कर दिया जाय अथवा इसे दलीय राजनीति से ऊपर रखा जाय।

यदि इन दोनों में से किसी एक विकल्प को स्वीकार नहीं कियां गया तो वह दिन दूर नहीं जब राज्य सरकारें राज्यपालों के खिलाफ काले झण्डों का प्रदर्शन करवायेंगी और राज्य प्रमुख के रूप में उन्हें मानने से इन्कार कर देंगी। यह हमारे लोकतन्त्र के लिए काली घड़ी होगी। दुर्भाग्यवश हम उसी ओर दौड़ रहे हैं।

15.3 सारांश

संसदात्मक व्यवस्था में राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है। किन्तु बदले हुए राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उसकी भूमिका आभूषणवत् रह गयी है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वह भारत का नागरिक और 35 वर्षो से कम का न हो। राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं। राज्यपाल को निम्नलिखित शक्तियाँ प्राप्त हैं। कार्यपालिका, विधायी, वित्तीय, न्यायिक विविध। कुछ आलोचकों के अनुसार राज्यपाल की स्थिति बिल्कुल दयनीय है किन्तु कुछ लोगों ने इस बात पर बल दिया कि राज्यपाल की भूमिका राज्य में बहुत महत्त्वपूर्ण है। राज्यपाल को केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कहा जाता है। किन्तु निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल का कार्य एक साथ विविध और महत्त्वपूर्ण है और वह केंन्द्र और राज्य के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

15.4 कुंजी शब्द

(अ) मत निरपेक्ष : जिसपर मत नहीं दिया जाता।

(ब) सहयोगी संघवाद

(ग) संकीर्ण प्रान्तीयतावाद

15.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राज्यपाल की नियुक्ति एवं कार्यो का वर्णन करें।

   उत्तर- (15.2, 15.2.2)

2. राज्यपाल की भूमिका की चर्चा करें।
   उत्तर- (15.0, 15.2.3)
3. राज्यपाल की विधायी शक्तियों पर प्रकाश डालें।
   उत्तर- (15.2.1)
4. टिप्पणी लिखें : राज्यपाल की कार्यपालिका शक्ति :
   उत्तर- (15.2.1)

15.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. भारतीय शासन एवं राजनीति : डॉ0 पुखराज जैन, डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया
2. भारत का संविधान : पायली
3. संविधान की आत्मा : सुभाष कश्यप

❖❖❖

राज्य मंत्रिपरिषद तथा मुख्यमंत्री

पाठ संरचना

16.0 भूमिका

16.1 उद्देश्य

16.2 मंत्रिपरिषद का गठन

16.2.1 मंत्रिपरिषद के कार्य

16.2.2 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

16.2.3 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

16.2.4 मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति

16.2.5 निष्कर्ष

16.3 सारांश

16.4 कुंजी शब्द

16.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

16.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

16.0 भूमिका

संविधान की धारा 163(1) द्वारा केन्द्र की भांति राज्यों में एक मंत्रिपरिषद की व्यवस्था की गई है। जिन बातों में संविधान द्वारा या संशोधन के अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यों को स्वविवेक से करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वाह करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी।

राज्यपाल मंत्रिपरिषद का गठन करेगा। व्यवहारतः बहुमत प्राप्त दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है और उसके परामर्श पर अन्य मंत्रियों को। मंत्रिपरिषद राज्यपाल के नाम पर समस्त कार्यपालिका शक्तियों का उपयोग करती है। वह राज्य शासन का वास्तविक प्रधान है। इस अध्याय में मंत्रिपरिषद के गठन एवं कार्यों का तथा मुख्यमंत्री के अधिकारों एवं कृत्यों का वर्णन किया जाएगा।

16.1 उद्देश्य

राज्य में मुख्यमंत्री राज्य सरकार का वास्तविक प्रधान है। संविधान के अनुसार भारत में राज्य शासन के लिए संसदीय ढांचे की व्यवस्था की गयी है। यह ढांचा केन्द्रीय सरकार के अनुरूप ही है। जिस भांति केन्द्र में राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमन्त्री को वास्तविक प्रधान, उसी भांति राज्य में राज्यपाल को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमंत्री को वास्ववविक प्रधान। वस्तुतः राज्य में राज्यपाल उत्तरदायी मंत्रिपरिषद की सहाय्रता से शासन चलाता है जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। संविधान निर्माताओं ने यह आशा की थी कि राज्य में मुख्यमंत्री बहुमत दल का नेता ही नहीं होगा अपितु राज्य का नायक और प्रवक्ता भी होगा। मुख्यमंत्री की व्यक्तिगत और सुदूर राजनीतिक स्थिति पर ही राज्य विशेष का आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति और व्यवस्था निर्भर है। यह सिद्ध हो चुका है कि शक्तिशाली मुख्यमंत्री स्थायी नीतियों का निर्माण करके राज्य के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर चुके हैं।

16.2 मंत्रिपरिषद का गठन

मुख्यमंत्री की नियुक्ति : मंत्रिपरिषद का प्रधान मुख्यमंत्री होता है। उसकी नियुक्ति राज्यपाल करता है। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति के संबंध में राज्यपाल स्वेच्छा का प्रयोग नहीं कर सकता। साधारणतः वह विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त दल के नेता को मंत्रिपरिषद के निर्माण के लिए आमंत्रित करता है। केवल उस हालत में जबकि किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त हो, वह विभिन्न दलों के नेताओं से मंत्रिपरिषद के निर्माण के संबंध में बातचीत कर सकता है तथा मुख्यमंत्री के चुनाव में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।

मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यंत अपेन पद पर बने रहते हैं। लेकिन, वास्तविकता यह है कि विधानमण्डल के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत के फलस्वरूप मंत्रिमण्डल तबतक पदारूढ़ रहता है जबतक उसे विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहता है। इस संबंध में पश्चिम बंगाल के राज्यपाल द्वारा सितंबर 1967 में अजय कुमार मुखर्जी सरकार की बर्खास्तगी एक प्रमुख सांविधानिक घटना बन गई। राज्यपाल धर्मवीर ने यह महसूस किया कि मुखर्जी मंत्रिमंडल विधानसभा का विश्वास खो चुका है। अतः उन्होंने जल्द से जल्द विधानसभा की बैठक बुलाकर विश्वास प्राप्त करने के लिए कहा। मुख्यमंत्री द्वारा विधानसभा की बैठक जल्द नहीं बुलाए जाने के कारण उन्होंने अल्पमत मंत्रिमंडल का गद्दी पर बना रहना गैरकानूनी और अप्रजातांत्रिक समझा। अतः, उन्होंने मुखर्जी मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया। भारत में यह अपने प्रकार की सांविधानिक घटना थी। राज्यपाल ने प्रसादपर्यंत सिद्धांत तथा विवेकाधिकार सिद्धांत के अंतर्गत काम किया था। अल्पमत मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया। इस संबंध में विधिवेत्ताओं ने राज्यपाल के कार्य को उचित तथा सांविधानिक ठहराया। उनका कहना था कि राज्यपाल ने विवेकाधिकार के अंतर्गत अल्पमत मंत्रिमंडल को बर्खास्त किया तथा कोई भी मंत्रिमण्डल राज्यपाल के विश्वासपर्यंत ही पदासीन रह सकता है। दूसरे पक्ष का मत था कि मंत्रिमंडल को अपदस्थ करने की अंतिम शक्ति केवल विधानसभा को प्राप्त है। केवल विधानसभा द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर मंत्रिमण्डल अपदस्थ हो सकता है। मंत्रिमण्डल को अपदस्थ करने का एकमात्र अधिकार विधानसभा को है, राज्यपाल को नहीं। केन्द्रीय विधि मंत्रालय द्वारा राज्यपाल के कार्य के समर्थन को कई व्यक्तियों ने खतरनाक तथा असांविधानिक बताया।

जहां तक मंत्रिमण्डल के निर्माण के संबंध में राज्यपाल के विवेकाधिकार का प्रश्न है, चौथे आम चुनाव के बाद यह प्रभावकारी शक्ति बन गया। अधिकांश राज्यों में किसी दल विशेष को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। विभिन्न दलों ने एक दूसरे से मिलकर बहुमत का दावा किया। राज्यपालों को इसका निर्णय करना था कि किस गुट को अधिक विधायकों का समर्थन प्राप्त है तथा कौन सा गुट स्थायी सरकार का निर्माण कर सकता है। मध्यप्रदेश, हरियाणा, उत्तरप्रदेश,

बिहार, पश्चिम बंगाल तथा राजस्थान में इस प्रकार की परिस्थितियां बार बार पैदा हुई।

राज्यपालों को निर्णय लेने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा तथा उनपर पक्षपात करने की लांछना लगाई। अतः केन्द्रीय सरकार इस संबंध में राज्यपालों को भी स्पष्ट निर्देश देने की बात सोचने लगी।

अन्य मंत्रियों की नियुक्ति : अन्य मंत्रियों की नियुक्ति के संबंध में मुख्यमंत्री को पूर्ण अधिकार प्राप्त है। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि वह इस संबंध में बिल्कुल स्वतंत्र है। बल्कि, उसके हाथ कई अर्थों में बंधे हुए हैं। वह दल के प्रभावपूर्ण नेताओं, विभिन्न वर्गों एवं समुदायों, दल के गुटों तथा राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। कुछ राज्यों में अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित वर्गों को मंत्रिमंडल में स्थान देना ही होता है। संविधान में उपबंधित है कि बिहार, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा में एक मंत्री अनुसूचित जनजातियों के हित का कार्य देखेगा।

कार्यकाल : मंत्रि राज्यपाल के प्रसादपर्यंत अपनेपद पर बने रहते हैं। लेकिन, वास्तविकता यह है कि विधानमंडल के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत के फलस्वरूप मंत्रिमंडल तबतक पदारूढ़ रहता है जबतक कि विधानसभा का उसे विश्वास प्राप्त रहता है। कोई भी व्यक्ति मंत्रि पद पर नियुक्त हो सकता है। लेकिन, अगर छह महीने के अंदर विधानसभा के किसी सदन का सदस्य निर्वाचित नहीं हो पाता है तो उसे मंत्रिपद से हट जाना पड़ेगा। मुख्यमंत्री से विरोध की स्थिति में मंत्री को त्यागपत्र देना पड़ता है, अन्यथा उसे बर्खास्त भी किया जा सकता है। भारत में ऐसी घटनाओं के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। कई मंत्रियों को न्यायालय में या जांच आयोग में आरोप सिद्ध हो जाने पर भी त्यागपत्र देना पड़ा है।

वेतन तथा भत्ते : मंत्रियों के वेतन या भत्ते की राशि राज्य विधानमंडल द्वारा निर्धारित होती है। भिन्न भिन्न राज्यों में वेतन के संबंध में अंतर है। उन्हें विभिन्न राज्यों में 500 से 1,500 रुपये वेतन प्रतिमाह मिलता है। उन्हें तरह तरह के भत्ते तथा सुविधाएँ भी प्राप्त हैं।

मंत्रियों की श्रेणियाँ : मंत्रिपरिषद में निम्नलिखित स्तरों के मंत्रिगण होते हैं :

(क) मंत्रिमंडलीय मंत्री (ख) मुख्यमंत्री

(ग) उपमंत्री (घ) संसदीय सचिव

केवल मंत्रिमंडलीय मंत्रि ही मंत्रिमंडल के सदस्य होते हैं। वे एक या अधिक प्रशासकीय विभागों के प्रधान होते हैं। विभाग के समुचित रूप से कार्यसंचालन का उत्तरदायित्व उनपर होता है। अन्य श्रेणियों के मंत्रि शायद ही कभी विभाग के अध्यक्ष होते हैं। अन्य श्रेणियों के मंत्रि का कार्य विधायी तथा प्रशासकीय क्षेत्रों में विभागीय मंत्रियों की सहायता करना है।

सदस्य संख्या : विभिन्न राज्यों में अलग अलग समय में मंत्रियों की संख्या भिन्न भिन्न रही है। आवश्यकतानुसार मंत्रियों एवं राज्य मंत्रियों की संख्या घटाई बढ़ाई जाती है।

संयुक्त मंत्रिमंडल : चौथे आम चुनाव के फलस्वरूप पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, पंजाब, हरियाणा, केरल तथा मध्यप्रदेश में विभिन्न गैर कांग्रेसी दलों ने मिली जुली सरकारों का निर्माण किया। भारतीय राजनीति में यह नया सांविधानिक विकास हुआ। इनमें कुछ राज्यों के कार्य सफलतापूर्वक चले पर कुछ राज्यों में उथल पुथल भी हुई। बाद में भी कई राज्यों में संयुक्त मंत्रिमण्डल का निर्माण होता रहा है।

16.2.1 मंत्रिपरिषद के कार्य

राज्य मंत्रिपरिषद के निम्नलिखित कार्य हैं :

1. राज्य मंत्रिपरिषद राज्य की नीतियों को निर्धारित करती है। मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से महत्त्वपूर्ण नीतियों के संबंध में निर्णय लेता है। सभी मंत्रि सामूहिक रूप से नीति निर्धारण के लिए विधानमण्डल

के प्रति उत्तरदायी हैं।

2. मंत्रीगण विधानमंडल के विधायी कार्यक्रमों को निश्चित करते हैं तथा विधेयक को पुन: स्थापित करते हैं। प्रस्तावित विधेयकों के मौलिक सिद्धांत पर मंत्रिमण्डल विचार विमर्श करता है तथा राज्यपाल के अभिभाषण में उसे स्थान देता है।

3. विभागीय प्रधानों की नियुक्ति मंत्रिपरिषद द्वारा ही होती है। उच्च राज्य कर्मचारियों के स्थानांतरण का निर्णय भी मंत्रिमंडल ही करता है।

4. मंत्री सदन में पूछे गए प्रश्न पर उत्तर देते हैं तथा स्थगन प्रस्तावों के संबंध में भी जवाब देते हैं।

5. मंत्रिमंडल राज्य की कर संबंधी नीति का निर्धारण करता है तथा वित्तमंत्री को आय व्यय के निर्णय में सहायता पहुंचता है।

6. कोई भी मंत्री व्यक्तिगत रूप से अपने विभाग के प्रशासन के लिए उत्तरदायी है।

7. मंत्रिमंडल ऐसे प्रश्नों पर भी विचार करता है जो उस राज्य से संबंद्ध है।

8. संघ सरकार से अनुदान की मांग किसी संरक्षित विधेयक पर राष्ट्रपति की स्वीकृति और समवर्ती सूची के संबंध में विधायी प्रस्तावों पर मंत्री विचार करता है।

9. राज्यपाल को परामर्श देने के संबंध में तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में मंत्रिमंडल द्वारा विचार किया जाता है।

10. मंत्रिपरिषद के समक्ष ऐसे प्रश्न को भी रखा जा सकता है जिसके बारे में लोकसेवा आयोग के परामर्श का उल्लंघन किया गया हो।

11. राज्य की रक्षित निधि से व्यय का प्रस्ताव किसी मंत्री द्वारा ही लाया जा सकता है।

संक्षेप में, संघीय मंत्रिमंडल की भांति राज्य मंत्रिमण्डल ही राज्य का वास्तविक प्रशासन है तथा मुख्यमंत्री राज्य का वास्तविक प्रधान। मंत्रिगण विधानमंडल के पथ प्रदर्शक हैं। वे विधेयकों को प्रस्तावित तथा पारित कराते हैं तथा राज्य की नीतियों को लागू कराते हैं। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि विधानमंडल का मंत्रिमंडल पर कोई नियंत्रण ही नहीं है। अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा विधानसभा मंत्रिमंडल को पदच्युत कर सकती है।

इसके अतिरिक्त, प्रश्नों तथा पूरक प्रश्नों द्वारा विधानमंडल मंत्रिमंडल को नियंत्रित करता है। निष्कर्षत: मंत्रिमंडल राज्य का वास्तविक किन्तु मर्यादित शासक है।

16.2.2 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति संबंधित राज्य के राज्यपाल करते हैं। मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल मुख्य रूप से दो मापदण्डों का सहारा लेते हैं : प्रथम, उसे राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होगा, द्वितीय, यदि वह विधानसभा का सदस्य भी हो तो उसे मुख्यमंत्री पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा, परन्तु उसके लिए मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त होने की तारीख से छ: माह की अवधि में विधानसभा का सदस्य बनना आवश्यक है। अन्यथा उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा।

संविधान में मुख्यमंत्री पद की योग्यताओं का वर्णन नहीं किया गया है। सामान्यत: मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल को कोई स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो अत्यन्त हास्यास्पद कार्य करेगा क्योंकि बहुमत के समर्थन के बिना सरकार नहीं चल पायेगी। राज्यपाल को केवल उस समय अपने स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ेगा जब विधानमण्डल में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न होगा। ऐसी स्थिति में वह जिस दल के नेता को अधिक उपयुक्त समझेगा, उसे ही मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलायेगा।

मुख्यमंत्री चयन की राजनीति

मुख्यमंत्री का चयन करना आसान नहीं है। अनेक राज्यों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने, सिद्धान्तहीन गठबन्धनों के अस्तित्व में आने और दल बदल की घटनाओं के कारण मुख्यमंत्रियों के चयन में अनेक दुविधाएं उपस्थित हुई। मुख्यमंत्री चयन से संबंधित अनेक विवादस्पद प्रश्न उत्पन्न हुए हैं जिनका संबंध साधारणतया सत्ता और जोड़ तोड़ की राजनीति से ही है। उनमें से कतिपय प्रश्न इस प्रकार हैं:

1. मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करते हैं या उसे प्रधानमंत्री की अभिरुचि का व्यक्ति होना अपेक्षित है।
2. मुख्यमंत्री को हाईकमान का विश्वास प्राप्त होना चाहिए अथवा राज्य के विधानमण्डल दल का ।
3. उसे बहुमत दल के अधिसंख्य गुटों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए अथवा सम्पूर्ण बहुमत वाले दल का।

दलीय बहुमत के अभाव में मुख्यमंत्री का चयन : सन् 1952 में मद्रास में विधानसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था। टी0, प्रकाशन के नेतृत्त्व में विरोधी दलों ने संयुक्त मोर्चा गठित करके राज्यपाल को अपने 167 समर्थकों की सूची पेश की। कांग्रेस दल को विधान सभा में 155 स्थान मिले थे और वह सबसे बड़ा दल था। राज्यपाल ने कहा कि संयुक्त मोर्चा चुनावोत्तर घटना है और उसका कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं है, अत: उसे सरकार बनाने की स्वीकृति नहीं दी जा सकती है। राज्यपाल ने सबसे बड़े कांग्रेस दल के नेता सी0 राजगोपाचारी को विधानपरिषद का सदस्य मनोनीत कर मंत्रिमंडल के गठन हेतु निमंत्रण दिया। सन् 1952 में त्रावनकोर कोचीन में भी राज्यपाल ने कांग्रेस विधायक दल के नेता को मंत्रिमंडल के निर्माण हेतु आमंत्रण दिया। त्रावनकोर कोचीन में 104 सदस्यीय विधानसभा में कांग्रेस के 45 तथा संयुक्त मोर्चा के 59 सदस्य थे। 1952 में उड़ीसा में 60 सदस्यीय विधानसभा में कांग्रेस को केवल 26 स्थान प्राप्त हुए, फिर भी राज्यपाल ने कांग्रेस दल के नेता को मंत्रिमंडल बनाने हेतु बुलाया। 1957 में उड़ीसा में भी कांग्रेस दल का मंत्रिमंडल बना, जबकि विधानसभा में उसके पास अल्प स्थान थे। 1967 में राजस्थान में 183 सदस्यीय सदन में कांग्रेस दल को 88 स्थान प्राप्त हुए और संयुक्त मोर्चे की संख्या 93 सदस्यों की थी। राज्यपाल ने मोर्चे के साथ निर्दलीय सदस्यों की उपेक्षा करते हुए सबसे बड़े दल के नेता श्री सुखाड़िया को मंत्रिमंडल के गठन हेतु बुलाया।

सन् 1965 में केरल में मार्क्सवादी साम्यवादी दल विधानमण्डल में सबसे बड़ा दल था और नम्बूद्रीपाद अन्य दलों की सहायता से सरकार बनाने की स्थिति में थे। किन्तु राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की । सन् 1967 में पंजाब में राज्यपाल ने सबसे बड़े कांग्रेस दल के बजाय संयुक्त मोर्चे के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। बंगाल और बिहार में भी कांग्रेस सबसे बड़ा दल था, फिर भी उसके नेता को मंत्रिमंडल निर्माण हेतु नहीं बुलाया गया।

चुनावों से पूर्व गठबंधन और मुख्यमंत्री का चयन : यदि जन निर्वाचनों से पूर्व विभिन्न दलों ने न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संयुक्त मोर्चा गठित कर लिया है तो राज्यपालों ने उनके नेता को मुख्यमंत्री पद ग्रहण करने हेतु निमंत्रण दिया है। सन् 1967 में केरल के राज्यपाल ने नम्बूद्रीपाद को मंत्रिमंडल गठित करने हेतु बुलाया था क्योंकि चुनावों से पूर्व ही सात दलों ने निश्चित कार्यक्रम की घोषणा कर दी थी। सन् 1970 में केरल में अच्युत मेनन को भी मुख्यमंत्री बनने का मौका दिया गया, क्योंकि कांग्रेस, साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग ने निश्चित कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़ा था। सन् 1969 में पंजाब में राज्यपाल ने गुरनाम सिंह को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया, क्योंकि अकाली दल और जनसंघ ने साझा कार्यक्रम पर चुनाव लड़ा था। सन् 1969 में श्री अजय मुखर्जी के नेतृत्त्व में चौदह दलों के संयुक्त मोर्चे ने बंगाल का चुनाव लड़ा और राज्यपाल ने उन्हें विजयोपरान्त मंत्रिमंडल बनाने हेतु बुलाया।

दल बदल के बाद संविद का गठन और मुख्यमंत्री का चयन : सन् 1967 में हरियाणा में दल बदल के कारण भगवत दयाल शर्मा मंत्रिमंडल का पतन हुआ। राव वीरेन्द्रसिंह के नेतृत्त्व में जनसंघ, मार्क्सवादी, साम्यवादी दल

और निर्दलीय विधायकों का संविद (संयुक्त विधायक दल)बना और राज्यपाल ने संविद नेता को मुख्यमंत्री पद हेतु निमंत्रण दिया। 1967 में ही दल बदल के कारण चन्द्रभानु गुप्त को त्यागपत्र देना पड़ा और चौधरी चरणसिंह के नेतृत्त्व में कई दलों ने संविद का गठन किया। राज्यपाल ने चरणसिंह को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलायी। मध्य प्रदेश में भी जुलाई 1967 में गोविन्दनारायण सिंह के नेतृत्व में दल बदल के परिणामस्वरूप संविद का गठन हुआ जिसे विध नसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त था। राज्यपाल ने श्री सिंह को मंत्रिमंडल बनाने हेतु मुख्यमंत्री बनाया।

कांग्रेस दल के मुख्यमंत्री का चयन : कांग्रेस दल में वही व्यक्ति मुख्यमंत्री के पद को धारण कर सकता है जो गठजोड़ की राजनीति में पारंगत हो और साथ ही उसके सिर पर प्रधानमंत्री का वरदहस्त भी हो। कांग्रेस दल के मुख्यमंत्री के लिए हाईकमान का समर्थन और साथ साथ केन्द्र से संबंधित राज्य के वरिष्ठ मंत्री का सक्रिय सहयोग भी आवश्यक हो गया है। उदाहरणार्थ, मध्य प्रदेश में श्री प्रकाशचन्द्र सेठी, उड़ीसा में श्रीमती नन्दिनी सत्पथी, बंगाल में श्री सिद्धार्थ शंकर रे, गुजरात में श्री घनश्याम ओझा, बिहार में श्री अब्दुल गफूर, उत्तर प्रदेश में श्री कमलापति त्रिपाठी और हेमवती नन्दन बहुगुणा को प्रधानमंत्री ने ही मुख्यमंत्री पद पर आसीन करवाया, क्योंकि ये सब उन्हीं की अभिरुचि के व्यक्ति थे। सन् 1980 के विधानसभा चुनावों के बाद जगन्नाथ पहाड़िया, शिवचरण माथुर (राजस्थान), अर्जुन सिंह, मोतीलाल बोरा (मध्य प्रदेश), की मन्शा ही बतलायी जाती है। बिहार में श्री केदार पांडे को मुख्यमंत्री पद से हटना पड़ा, क्योंकि उन्होंने बिहार के वरिष्ठ नेता श्री मिश्र का आशीर्वाद खो दिया था। आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्रियों को हटना पड़ा क्योकि राजनीतिक् कारणों से दल का हाइकमान ऐसा ही चाहता था। गुजरात में श्री माधव सिंह सोलंकी (जुलाई) 1985 को मुख्यमंत्री पद से अलग करने का निर्णय अन्ततोगत्वा हाईकमान ने ही किया।

पिछले कुछ वर्षों से कांग्रेस (ई) के मुख्यमंत्री ऊपर से थोपे जाने की प्रवृत्ति रही है। मोती लाल बोरा, शिवचरण माथुर, सत्येन्द्र नारायण सिंहा, दत्त तिवारी, अमर सिंह चौधरी, श्यामाचरण शुक्ल और पी0 वी0 नरसिंव की प्रधानमंत्री बनने के बाद कांग्रेस (इ) में आन्तरिक लोकतन्त्र की चर्चा होने लगी है जिससे यह आशा की जाती है अब मुख्यमंत्री ऊपर से नहीं थोपे जायेंगे और उनका चयन राज्य विधानमंडल करेगा।

जनता पार्टी के मुख्यमंत्रियों का चयन : जून 1977 के विधानसभा चुनावों के पश्चात भारत के सात आठ राज्यों में जनता पार्टी को अच्छा खासा बहुमत प्राप्त हुआ। जनता पार्टी के मुख्यमंत्रियों का चयन राज्य विशेष की विधानसभा में इसके घटक दलों की संख्या के आधार पर हुआ। उत्तर प्रदेश, बिहार और हरियाणा में भारतीय लोकदल घटक के व्यक्तियों को मुख्यमंत्री बनाया गया और मुख्यमंत्री पद क्रमशः रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर तथा चौधरी देवीलाल को प्राप्त हुए। राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में जनसंघटक के भैरोसिंह शेखावत, कैलाश जोशी और शान्ता कुमार को मुख्यमंत्री पद प्राप्त हुए। ऐसा कहा जाता है कि जनसंघ और भारतीय लोकदल के वरिष्ठ नेताओं ने आपसी गठजोड़ के माध्यम से मुख्यमंत्री पद अपने अपने घटकों के लिए बांट लिए और अन्य घटकों की उपेक्षा कर दी। आगे चलकर भारतीय लोकदल और जनसंघ घटकों के बीच मतभेद बढ़ने लगे। भारतीय लोकदल ने उत्तर प्रदेश में कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी घटक से सांठ गांठ करके बनारसीदास को मुख्यमंत्री पद पर आसीन करवाया। जनसंघ घटक ने इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बिहार से कर्पूरी ठाकुर और हरियाणा से देवीलाल को हटने के लिए बाध्य किया और जनसंघ घटक के सहयोग से राम सुन्दरदास (बिहार) तथा भजनलाल (हरियाणा) मुख्यमंत्री बने। ये दोनों ही सी0 एफ0 डी0 घटक से संबंधित थे। घटकवादी प्रवृत्ति के कारण ही राजस्थान में महारावल लक्ष्मणसिंह मुख्यमंत्री नहीं बन सके, क्योंकि जनसंघ घटक की तुलना में भारतीय लोकदल घटक का राजस्थान में संख्या बल कम था।

विधानसभा बहुमत दल द्वारा मुख्यमंत्री का चयन : कभी कभी बहुमत दल में मुख्यमंत्री पद हेतु दो दावेदार होते हैं। ऐसी स्थिति में बहुमत दल की बैठक में शक्ति परीक्षण द्वारा भी मुख्यमंत्री के पद के दो प्रत्याशी श्री चिमनभाई पटेल और श्री कान्तिलाल चिया मैदान में थे। श्री पटेल इस बात पर अड़े कि चुनाव विधानमंडल दल द्वारा ही किया जाये। इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया और विधानमंडल कांग्रेस दल को मुख्यमंत्री चुनने का

अधिकार दिया गया। विधानमंडल में चिमनभाई पटेल को बहुमत था। अत: वे मुख्यमंत्री बनाये गये।

बहुमत के समर्थन के बावजूद अन्य मुख्यमंत्री का चयन : कभी कभी बहुमत का पूर्ण समर्थन होने के बावजूद अन्य व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाया गया। राजस्थान में विधानमंडल कांग्रेस दल ने श्री सुखाड़िया के नेतृत्त्व में विश्वास प्रकट किया था, किन्तु उन्हें पद त्याग करना पड़ा। उत्तर प्रदेश में कमलापति त्रिपाठी को बहुमत का समर्थन प्राप्त था।

संविद सरकारों में मुख्यमंत्री का चयन : संविद शासनकाल में मुख्यमंत्री का चयन भिन्न पद्धति से हुआ। कई बार दल बदलुओं को मुख्यमंत्री बनाकर दल बदलने का मूल्य चुकाया गया है। चतुर्थ जन निर्वाचनों के उपरान्त श्री चरणसिंह (उत्तर प्रदेश), श्री गोविन्द नारायण सिंह (मध्य प्रदेश), श्री भोला पासवान शास्त्री (बिहार) आदि दल बदलू मुख्यमंत्री थे। कई बार राजनीतिक सौदेबाजी के रूप में उपहारस्वरूप मुख्यमंत्री का पद सौंपा गया। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश में श्री टी() एन() सिंह ऐसे ही मुख्यमंत्री बनाये गये।

मुख्यमंत्री का चयन एवं नियुक्ति : कुछ निष्कर्ष :यह सर्वविदित है कि राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति करते समय निश्चित और समान मानदण्डों का सहारा नहीं लिया। राज्यपालों के विरोधाभासपूर्ण आचरण के कारण राज्यों में राजनीतिक और संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हुए। इन राजनीतिक गतिरोधों के कारण न केवल संस्थागत स्वरूप ही, अपितु राज्यों का सार्वजनिक जीवन भी प्रभावित हुआ है। भारत में मुख्यमंत्री चयन की राजनीति का विश्लेषण करने से निम्नलिखित तथ्य उभरते हैं।

1. मुख्यमंत्री के चयन में राज्यपालों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। अनेक अवसरों पर राज्यपालों ने अपने विवेक का प्रयोग किया है।
2. मुख्यमंत्री के चयन में प्रधानमंत्री और केन्द्रीय सरकार की इच्छा एवं अभिरूचि अनेक अवसरों पर प्रभावशाली रही है।
3. संविद सरकारों ने मुख्यमंत्री का निर्धारण इस आधार पर होता था कि सबसे बड़े दल के नेता को व्रह पद दिया जाना चाहिए। परंतु संविद शासनकाल में दल बदलू नेताओं को भी मुख्यमंत्री बनाया गया।
4. कांग्रेस दल में सरकारी गुट और संगठन गुट बन जाता है। संगठन गुट सरकार के विरोधी गुट के रूप में कार्य करता है। 1966 में कामराज (संगठन गुट के नेता) राजगोपालाचारी (सरकार पक्ष के नेता) को हटाकर मुख्यमंत्री बने। उत्तर प्रदेश के चन्द्रगुप्त सम्पूर्णानन्द को हटाकर, असम में शरदचन्द्र सिंहा तात्कालिक मुख्यमंत्री महेन्द्र मोहन चौधरी को हटाकर इसी ढंग से मुख्यमंत्री बने।
5. जनता पार्टी के मुख्यमंत्रियों का चयन घटकवाद के आधार पर हुआ।

16.2.3 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियां

मुख्यमंत्री राज्य मंत्रिपरिषद का गठन करता है। वह अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण करता है। वह मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह मंत्रियों के आपसी विवादों तथा मतभेदों को सुलझाता है। वह विधानसभा का नेता होता है। वह विधानसभा के अध्यक्ष से परामर्श करके विधायी कार्यक्रम तैयार करता है उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को परामर्श देकर विधानसभा को विघटित करा दे। वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है और राज्य की नीतियों के निर्धारण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य प्रशासन के महत्त्वपूर्ण पदों पर जिन व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है। वस्तुत: उसका चयन मुख्यमंत्री ही करता है। संक्षेप में, मुख्यमंत्री पांच प्रकार के प्रमुख कार्य करता है :

1. मंत्रिमंडल का अध्यक्ष होने के कारण वह मंत्रिमंडल का गठन करता है।
2. मंत्रिमंडल का अध्यक्ष होने के नाते वह मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता है।

3. राज्यपाल को राज्य शासन या व्यवस्थापन संबंधी मंत्रिमंडल के निर्णय से अवगत कराता है।
4. कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होने के कारण उसे समस्त प्रशासन के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है।
5. विधानसभा में शासकीय नीतियों तथा कार्यों की घोषणा और स्पष्टीकरण करने का उत्तरदायित्व मुख्यमंत्री पर ही है। राज्य का पूरा शासनतंत्र उसी के संकेतों पर संचालित होता है। वह राज्य शासन का कप्तान है और राज्य मंत्रिमंडल में उसकी विशिष्ट स्थिति होती है। कार्यों एवं दायित्वों की दृष्टि से उसे प्रधानमंत्री का लघुरूप कहा जा सकता है।

मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद

मुख्यमंत्री के परामर्श से ही राज्यपाल द्वारा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है। मंत्रिपरिषद के विभागों का वितरण करना, मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करना, किसी भी मंत्री से उसके विभाग की सूचना प्रेषित करने को कहना, मंत्रियों के आपसी मतभेदों तथा विवादों को सुलझाना, इत्यादि सभी कार्य मुख्यमंत्री के ही हैं। मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद का नेता होता है। यदि किसी मंत्री से उसका मतभेद हो जाता है तो उस मंत्री को त्यागपत्र देना पड़ता है। मुख्यमंत्री के त्यागपत्र देने पर पूरी मंत्रिपरिषद ही भंग हो जाती है।

भारत में राजनीतिक आचरण से यह सिद्ध हो चुका है कि मंत्रिपरिषद के निर्माण में मुख्यमंत्री को अनेक तरह के दबावों में निर्णय करना होता है। संविद मंत्रिमंडल के काल में मुख्यमंत्री को संविद के निर्माणकारी दलों के दबाव में संतुलन कायम करते हुए मंत्रिमंडल का निर्माण करना पड़ता था। कांग्रेस दल के मुख्यमंत्री को प्रधानमंत्री और हाइकमान के मार्ग निर्देशन में ही कार्य करना पड़ता है। सन् 1971 के पश्चात अधिकांश मुख्यमंत्रियों ने हाईकमान की मन्त्रणा से ही राज्य मंत्रि परिषद का गठन किया है। राज्य मंत्रिमंडल लघु बनाया जाये या बड़ा, उसका कब विस्तार किया जाये आदि निर्णय भी हाईकमान के हाथों में ही केन्द्रित हो गये हैं।

मुख्यमंत्री और विधानमंडल

मुख्यमंत्री बहुमत दल के नेता के रूप में राज्य विधानसभा का भी नेतृत्त्व करता है। वह विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है और विधानसभा अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा उसे अपदस्थ कर सकती है। विधानसभा में सरकार की नीति से संबंधित अधिकृत भाषण मुख्यमंत्री का ही होता है। राज्य विधानसभा के विधि निर्माण की कार्यवाही के संचालन में भी मुख्यमंत्री की प्रभावशाली भूमिका रहती है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को सलाह देकर विधानसभा को भंग करा दे। मार्च 1971 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से अनुरोध कर विधानसभा को भंग करवाया। 21 जनवरी, 1972 को हरियाणा के मुख्यमंत्री बंशीलाल ने राज्यपाल से निवेदन कर विधानसभा भंग करवायी। सन् 1972 में श्रीमती नन्दिनी सत्यपथी के परामर्श से ही ही राज्यपाल ने उड़ीसा विधानसभा को भंग किया। सन् 1984 में मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े के परामर्श से ही राज्यपाल ने कर्नाटक विधानसभा को भंग किया। मार्च 1922 में मुख्यमंत्री वामूजों के परामर्श से ही राज्यपाल एम0 एम0 थोमस ने नागालैण्ड विधानसभा को भंग किया। अनेक मुख्यमंत्रियों ने अपने इस अधिकार का प्रयोग समय समय पर किया है।

मुख्यमंत्री और राज्यपाल

मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद और राज्यपाल के बीच की कड़ी है। संविधान के अनुच्छेद 167 के अनुसार, राज्य के मुख्यमंत्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से संबंधित मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों और व्यवस्थापन के प्रस्तावों की सूचना राज्यपाल को दे। मंत्रिपरिषद द्वारा एक बार निर्णय लेने पर सामान्यतया राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। किंतु कतिपय परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद के बिना ही कार्य कर सकता है। उदाहरण

के लिए, राज्य में संवैधानिक व्यवस्था की विफलता की स्थिति में राज्यपाल संकटकाल की घोषणा किये जाने पर अपने विवेक के आधार पर कार्य कर सकता है।

यह भी परंपरा स्थापित हो गयी है कि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाये। चतुर्थ जन निर्वाचन से पूर्व इस परंपरा का पालन हुआ था, किन्तु संविद सरकारों के मुख्यमंत्रियों ने ये आरोप लगाया था कि उनके राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श नहीं किया गया। बिहार में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श नहीं किया गया। बिहार में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति के समय मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद से एवं उत्तर प्रदेश में डॉ0 बी0 गोपाल रेड्डी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति के समय मुख्यमंत्री श्री चरणसिंह से परामर्श नहीं लिया गया। 1991 में डॉ0 चेन्ना रेड्डी को राजस्थान का राज्यपाल नियुक्त करते समय मुख्यमंत्री शेखावत से परामर्श नहीं किया गया। ऐसा कहा जाता है कि सन् 1947 में बिहार के मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह के फलस्वरूप राज्यपाल श्री जयरामदास दौलत दास को अपना पद छोड़ना पड़ा।

अक्टूबर 1983 में प0 बंगाल के राज्यपाल बी0 डी0 पांडे का पंजाब में स्थानान्तरण कर दिया गया। प0 बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु श्रीनगर में थे और केन्द्रीय गृहमंत्री प्रकाश चन्द्र सेठी ने टेलीफोन से बसु को इस निर्णय की सूचना दी। मुख्यमंत्री बसु ने उनके राज्य के राज्यपाल को स्थानान्तरित एवं नये राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व उनसे परामर्श न किये जाने के सामान्य शिष्टाचार के अपालन की शिकायत की थी।

16.2.4 मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति

यदि स्वाधीन भारत के मुख्यमंत्रियों की भूमिका का वर्गीकरण किया जाये तो उनकी निम्न श्रेणियां बनायी जा सकती हैं :

1. शक्तिशाली मुख्यमंत्री : प्रथम श्रेणी में उन मुख्यमंत्रियों को रखा जा सकता है जो शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राज्य नेता थे। ऐसे मुख्यमंत्रियों का केन्द्रीय सरकार व हाईकमान पर पर्याप्त प्रभाव था। वे विधानमंडल के नेता और राज्य की जनता में लोकप्रिय रहे हैं। उन्हें किंगमेकर्स कहा जा सकता है। श्री नेहरू और श्री शास्त्री के देहान्त के उपरांत उनके उत्तराधिकारी के चयन के मामले पर जो जोड़ तोड़ हुई, उनमें शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों की उपक्रमिक भूमिका रही। इस श्रेणी में डॉ0 बी0 सी0 राय, श्री गोविन्द बल्लभ पन्त, श्री रविशंकर शुक्ल, श्रीकृष्ण सिंह, श्री मोरारजी देसाई, श्री कामराज, श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र आते हैं।

आज के परिप्रेक्ष्य में आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रा बाबू नायडू, पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री श्री बुद्धदेव भट्टाचार्य एक शक्तिशाली मुख्यमंत्री के रूप में जाने जाते हैं। बिहार की मुख्यमंत्री राबड़ी देवी संविद सकरार की मुखिया होने के बावजूद शक्तिशाली मुख्यमंत्री हैं। व्यवहार में यह देखा गया है कि केंद्र में अगर संविद सरकार रहती है तो राज्य के मुख्यमंत्री अधिक शक्तिशाली रहते हैं। क्षेत्रीयता की राजनीति इस अवधारणा को और मजबूती प्रदान कर रही है।

2. विवादास्पद मुख्यमंत्री : द्वितीय श्रेणी में वे मुख्यमंत्री आते हैं जिनका व्यक्तित्व विवादास्पद कहा जा सकता है, जिनपर भ्रष्टाचार के अनेक आरोप लगाये गये। श्री प्रतापसिंह कैरों, श्री बीजू पटनायक, श्री करुणानिधि, श्री कृष्ण बल्लभ सहाय, श्री बंशीलाल, श्री भजनलाल, ए0, आर0 अन्तुले, श्री लालू यादव आदि ऐसे ही मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश के विरुद्ध जांच आयोग भी बिठाये गये ताकि उनके विरुद्ध आरोपों की जांच की जा सके।

3. घटकों की शक्ति पर टिके मुख्यमंत्री : जनता पार्टी के मुख्यमंत्रियों की शक्ति का आधार उनके घटक दलों का संख्या बल था। भैरोंसिंह शेखावत और वीरेन्द्र कुमार सकलेचा टिके रहे, क्योंकि इनके राज्यों में जनसंघटक

का स्पष्ट बहुमत था। रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर और देवीलाल को हटना पड़ा, क्योंकि इनके घटकों को राज्य विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था।

4. केन्द्रीय सरकार के दूत की भूमिका वाले मुख्यमंत्री : कतिपय ऐसे व्यकित भी मुख्यमंत्री के पद पर रहे हैं, जिनकी जड़ें राज्य की राजनीति में न होकर हाईकमान के विश्वास और सहानुभूति पर टिकी हुई थी। इस श्रेणी में श्री प्रकाश चन्द सेठी, श्री अब्दुल गफूर, श्री घनश्याम ओझा, जगन्नाथ पहाड़िया, अर्जुनसिंह, श्री शिवचरण माथुर, बाबासाहेब भोंसले, मोतीलाल बोरा आदि को लिया जा सकता है।

नीलम संजीव रेड्डी अपने संस्मरणों में लिखते हैं- राज्य की विधानसभा पार्टी का नेता विधानसभा पार्टी के सदस्यों द्वारा नहीं, वरन् हाईकमान या पार्टी नेता द्वारा चुना जाता है। इस प्रकार चुना व्यक्ति मुख्यमंत्री बनता है। उसे न तो अपने मंत्रिमंडल के निर्माण के संबंध में कोई स्वतन्त्रता होती है और न मंत्रियों को विभाग देने के बारे में ही। यह नीति जनतान्त्रिक प्रणाली के सभी विचारों के इतनी प्रतिकूल है कि मैं अपने एक भाषण में इन्हें मनोनीत मुख्यमंत्री कहने से स्वयं को रोक नहीं सका।

5. दुर्बल मुख्यमंत्री : संविद सरकारों के युग में कार्य करने वाले मुख्यमंत्री को अत्यन्त निर्बल मुख्यमंत्री कहा जा सकता है। उत्तर प्रदेश में श्री चरणसिंह, मध्य प्रदेश में श्री गोविन्द नारायण सिंह, बंगाल में श्री अजय मुखर्जी आदि ऐसे ही कठपुतली मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। जम्मू काश्मीर के मुख्यमंत्री श्री जी0 एम0 शाह और आंध्र के दल बदलू मुख्यमंत्री भास्करराव को कठपुतली मुख्यमंत्री कहा जा सकता है। ऐसे मुख्यमंत्री की परवाह न तो मंत्रीगण करते हैं, न विधानसभा और न राज्यपाल ही। ऐसे मुख्यमंत्री का कार्य एक पोस्टमैन से अधिक नहीं हो सकता। यह बात सर्वविदित है कि संविद मुख्यमंत्रियों के काल में नौकरशाही के प्रभाव तथा यादव में भी अप्रतिम रूप से वृद्धि हुई है।

16.2.5 निष्कर्ष

सत्ता की राजनीति में मुख्यमंत्री की स्थिति राजनीतिक उतार चढ़ाव के साथ बदलती रही है। एक समय था जबकि मुख्यमंत्री शक्ति के पुंज थे। किन्तु कुछ समय से मुख्यमंत्री के पद का लगातार अवमूल्यन हो रहा है। संविद सरकारों के काल में तो मुख्यमंत्री एकदम अशक्त ही बन गये। संविद सरकारें अधिक टिकाऊ नहीं थीं और मुख्यमंत्री का अधिकांश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा में व्यतीत हो जाता था। इससे राज्यों में प्रशासनिक शून्यता का वातावरण फैला। सन् 1971 के पश्चात् अधिकांश मुख्यमंत्री हाईकमान के संरक्षण में ही पल्लवित एवं पोषित हुए हैं। अत: इस पद की संस्थागत स्वायत्तता समाप्त हो गयी है। नीलम संजीव रेड्डी के शब्दों में कांग्रेस (आई) के मनोनीत मुख्यमंत्री पार्टी को एकजुट रखने में कठिनाई अनुभव करते हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं क्योंकि उन्हें पार्टी विधायकों का विश्वास पाने के कारण नहीं, वरन दिल्ली स्थित पार्टी हाईकमान का विश्वासपात्र होने के कारण अपना पद प्राप्त होता है। पार्टी नेता के रूप में प्रधानमंत्री का मुख्यमंत्रियों के चुनाव में गहरा लगाव और उन लोगों का अपने पद पर बने रहने के लिए प्रधानमंत्री पर पूरी तरह निर्भर रहना केवल उनकी निर्णय लेने की शक्ति और आत्मिक प्रेरणा को रोकता ही है।

मुख्यमंत्री की स्थिति तीन बातों पर निर्भर करती है :

प्रथम, उसे किस सीमा तक केन्द्रीय नेताओं का संरक्षण एवं सहयोग प्राप्त है? द्वितीय, राज्य की गुटीय राजनीति में उसका गुट कितना सशक्त है? तृतीय, राज्य विधानसभा में उसकी क्या स्थिति है और राज्य के विकासात्मक कार्यों को क्रियान्वित करने में उसकी कितनी अभिरुचि है?

मुख्यमंत्री का पद बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि राज्यपाल दुर्बल व्यक्ति वाला है और विधानसभा में उसके दल को पर्याप्त बहुमत प्राप्त है एवं दल में उसकी स्थिति सुदृढ़ है तो मुख्यमंत्री की शक्तियों

में स्वतः वृद्धि हो जाती है।

16.3 सारांश

हमारे संविधान के अनुसार राज्यपाल को परामर्श देने के लिये एक मंत्रिपरिषद की व्यवस्था की गई हे। मंत्री मंत्रीपरिषद का अध्यक्ष विधान सभा में बहुमत का नेता मुख्यमंत्री होता है जिसकी नियुक्ति राज्यपाल करता है। राज्यपाल नाम मात्र का कार्यकारी प्रमुख है जबकि मंत्री परिषद वास्तविक कार्यपालिका है। मंत्रीपरिषद सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मुख्यमंत्री राज्य सरकार का वास्तविक प्रधान है। मंत्रीपरिषद का वह गठन करता है। शासकीय नीतियों को निर्धारित करता है। बहुमत दल के नेता के रूप में विधानसभा में वह उनका नेतृत्त्व करता है एवं मंत्रीपरिषद तथा राज्यपाल के बीच कड़ी का कार्य करता है।

आज के दिन में मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति तीन बातों पर निर्भर करती है :

(क) अगर वह केन्द्र में शासित दल का सदस्य है तो वह शक्तिशाली है।

(ख) अगर वह बहुमत प्राप्त किसी एक दल का नेता है तो वह शक्तिशाली है एवं

(ग) अगर वह केन्द्र द्वारा मनोनीत मुख्यमंत्री है जैसे झारखंड में बाबूलाल मरांडी और छत्तीस गढ़ के अजीत जोगी दोनों समता मुख्यमंत्री साबित हो रहे हैं। क्योंकि अपने हर निर्णय के लिए आला कमान का मुंह जोहते हैं।

साथ ही इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी पद की शक्तियों को प्रभावित करता है। जैसे लालू प्रसाद यादव न ही केन्द्र से मनोनीत थे, न ही बहुमत दल के नेता, लेकिन उनकी गिनती शक्तिशाली मुख्यमंत्री में होती है।

16.4 कुंजी शब्द

1. बहुमत
2. सत्ता की राजनीति
3. आला कमान : हाई कमान
4. घटक

16.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति कैसे होती है? उसकी शक्तियों एवं कार्यों की विवेचना करें।
   उत्तर- (16.2.2 - 16.2.3)
2. मुख्यमंत्री की शक्तियों एवं वास्तविक स्थिति की आलोचनात्मक समीक्षा करें।
   उत्तर- (16.2.2 - 16.2.4)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

3. मुख्यमंत्री की नियुक्ति पर टिप्पणी लिखें।
   उत्तर- (16.2.2)

4. मंत्री परिषद के क्या कार्य हैं?

   उत्तर- (16.2.1)

16.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. भारत का संविधान	:	पायली
2. संविधान की आत्मा	:	सुभाष कश्यप
3. भारतीय शासन एवं राजनीति	:	डॉ0 पुखराज जैन एवं डॉ0 बी0 एन0 फाड़िया

❖❖❖

उच्च न्यायालय : संगठन और कार्य

पाठ संरचना

17.0 भूमिका

17.1 उद्देश्य

17.2 उच्च न्यायालय का संगठन

17.2.1 शक्तियाँ एवं अधिकार क्षेत्र

17.2.2 न्यायधीशों का स्थानान्तरण

17.2.3 न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता

17.2.4 उच्च न्यायालय की भूमिका

17.3 सारांश

17.4 कुंजी शब्द

17.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

17.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

अनुच्छेद (214 – 231)

17.0 भूमिका

राज्य न्यायपालिका राज्यों के उच्च न्यायालय और उसके अधीनस्थ न्यायालयों से मिलकर गठित होती है। प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय है जो अभिलेख न्यायालय है और अपने अपमान के लिए दण्ड देने की शक्ति से युक्त है।

भारत में संधीय शासन प्रणाली के होते हुए भी उच्च न्यायालयों का स्वरूप राज्यों के न्यायालयों के रूप में अन्य संधीय राज्यों से भिन्न है, विशेषता संयुक्त राज्य अमरीका के राज्यों के न्यायालयों से । वहाँ पर राज्य न्यायालयों की रचना संविधान के अनुसार होती है तथा उनका संधीय न्याय पद्धति से कोई सम्बंध नही होता। इसके विपरीत भारत एक संघ राज्य होते हुए भी इसमें इकहरी न्यायपालिका को अपनाया गया है। न्यायपालिका के इस इकहरे ढांचे के अन्तर्गत उच्चतम स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित है। इस सर्वोच्च न्यायालय के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय

हैं तथा उच्च न्यायालयों के अधीन जिलों के न्यायालय तथा अन्य छोटे दीवानी और फौजदारी न्यायालय हैं।

17.1 उद्देश्य

संविधान के अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गयी है, किन्तु अनुच्छेद 231 के तहत एक ही उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र दो या दो से अधिक राज्यों या संघीय क्षेत्र तक विस्तृत हो सकता है। राज्यों में उच्च न्यायलय की स्थापना या इससे सम्बन्धित व्यवस्था में परिवर्तन का अधिकार संसद को प्राप्त है। इस समय देश में कुल मिलाकर 18 उच्च न्यायालय कार्यरत हैं। उच्च न्यायालय (गौहाटी) असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैण्ड, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश तथा मिजोरम राज्यों तक अपना क्षेत्राधिकार रखता है। बम्बई उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार महाराष्ट्र, गोआ राज्यों तक अपना क्षेत्राधिकार राज्यों तथा दादर व नगर हवेली व दमन-दीव संधीय क्षेत्रों तक है। कलकत्ता उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार पश्चिम बंगाल समेत लक्षदीप, अमीन द्वीप तथा मिनीकोय तक विस्तृत कर दिया गया है। पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र पंजाब, हरियाणा व संधीय क्षेत्र चण्डीगढ़ तक है।

17.2 उच्च न्यायालय का संगठन

प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश व अन्य कुछ न्यायाधीश होंगे जिनकी संख्या निश्चित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश और राज्य के राज्यपाल के परामर्श से करेंगे तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में वह उक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से भी परामर्श कर सकता है। परामर्श शब्दावली से तात्पर्य ''पूर्ण और प्रभावी'' परामर्श से है और इसके लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों के समक्ष सभी आवश्यक सामग्री और तथ्य रखे जायें जिनके आधार पर वह राष्ट्रपति को अपनी राय दे सके। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से भारत के किसी अन्य उच्च न्यायालय में काम करने के लिए स्थानान्तरित कर सकता है।

अवर और कार्यकारी न्यायाधीश : संविधान के अनुच्छेद 223 के अन्तर्गत जब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो या जब अनुपस्थिति या अन्य कारण से वह अपने कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो तो राष्ट्रपति अन्य न्यायाधीशों में से एक को उस पद के कर्तव्यों के पालन करने के लिए नियुक्त करेगा। अनुच्छेद 224 के अन्तर्गत न्यायालय के बढ़े हुए कार्यो या बकाया कार्यो को निपटाने के लिए राष्ट्रपति के अतिरिक्त न्यायाधीश की भी नियुक्ति कर सकता है। ऐसे न्यायाधीश दो वर्ष की कालावधि के लिए नियुक्त होते हैं।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ : उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद प्राप्त करने के लिए निम्न योग्यताएँ होना आवश्यक है :

(1) वह भारत का नागरिक हो ।

(2) वह कम से कम 10 वर्ष तक भारत के किसी क्षेत्र में न्याय सम्बन्धी पद पर कार्य कर चुका हो, अथवा एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय का लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो ।

न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते : मुख्य न्यायाधीश का वेतन 1998 विधेयक से 30,000 रुपया तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन 28,000 रुपये मासिक होगा। इस वेतन के अतिरिक्त उन्हें समस्त वेतन और उपलब्धियां प्राप्त होंगी, जिन्हें भारतीय संसद समय समय पर निश्चित करेगी । भारतीय संसद के द्वारा मार्च 1976 में एक विधेयक पारित कर पहली बार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को परिवार पेंशन और ग्रेच्युइटी की सुविधा प्रदान की गयी है। ये सुविधाएँ न्यायाधीशों को 1 अक्टूबर 1974 से प्राप्त हैं। न्यायाधीशों के कार्यकाल में

वित्तीय संकट के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थिति में उनके वेतन में अलाभकारी परिवर्तन नही किया जा सकता है। इस अवस्था के आधार पर उन्हें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त किया गया है।

कार्यकाल तथा महाभियोग : मूल संविधान की व्यवस्था के अनुसार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल 60 वर्ष था, किन्तु मई 1963 के पन्द्रहवें संशोधन के अनुसार अब यह कार्यकाल 62 वर्ष है। इसके पूर्व वह स्वयं अपना पद त्याग कर सकता है। संविधान के द्वारा भारतीय संसद को भी महाभियोग के आधार पर उसको उसके पद से हटाने का अधिकार दिया गया है। ऐसा करने का ढंग वही है जिसके आधार पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से हटाया जा सकता है। यदि संसद के दोनों सदन अलग अलग अपनी कुल संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश को अयोग्य या दुराचारी प्रमाणित करें और ऐसा प्रस्ताव राष्ट्रपति के सम्मुख रखे, तो राष्ट्रपति के आदेश से उसे अपना पद त्याग देना होगा । इस प्रकार का प्रस्ताव संसद के एक ही सदन में पारित होना चाहिए ।

17.2.1 शक्तियां एवं अधिकार क्षेत्र

उच्च न्यायालय की शक्तियाँ तथा अधिकार क्षेत्र

भारतीय संघ के प्रत्येक उच्च न्यायालय को दो प्रकार की शक्यिां प्राप्त हैं :

(1) न्याय सम्बन्धी, और

(2) प्रशासन सम्बन्धी।

इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है और इसे अपने अधिकार क्षेत्र में न्याय प्रशासन की शक्तियां भी प्राप्त हैं।

उच्च न्यायलय के न्याय सम्बन्धी क्षेत्र को और आगे दो भागों में बांटा जा सकता है :

1. प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र तथा
2. अपीलीय अधिकार क्षेत्र।

1. प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र : मौलिक अधीकारों के रक्षण से सम्बन्धित विवाद प्रारम्भ में ही उच्च न्यायालय को प्राप्त नहीं है। मौलिक अधिकारों की रक्षा हेतु उच्च न्यायालयों के द्वारा विभिन्न प्रकार के लेख जारी किये जा सकते हैं। इसकें अतिरिक्त प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय की वसीयत, विवाह विच्छेद, विवाह, विधि, कम्पनी कानून तथा न्यायालय के अवमान, आदि से सम्बन्धित मुकदमें सुनने का भी अधिकार है।

भारत के मूल संविधान में चुनाव सम्बन्धी विवादों की सुनवाई के लिए चुनाव न्यायाधिसंशोधन के अनुसार चुनाव याचिकाओं की सुनवाई, न्यायालयों के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है।

भारतीय संघ के उच्च न्यायालयों के कलकता, बम्बई और मद्रास उच्च न्यायालयों की अन्य उच्च न्यायालयों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त है। संविधान लागू होने के पूर्व इन तीनों महानगरों में '' प्रेसीडेन्सी कोर्ट्स थे इन तीनों महानगरों के प्रेसीडेन्सी कोर्ट्स का दीवानी और फौपदारी अधिकार क्षेत्र अब इन महानगरों में स्थित उच्च न्यायालयों को प्राप्त हो गया है।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार : उच्च न्यायालयों की दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों में अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

दीवानी मामलों में उच्च न्यायालयों में कोई भी अपील या तो पहली अपील होगी या दूसरी अपील। पहली अपील का अर्थ यह है कि जिला न्यायालय या अन्य निम्न न्यायालयों के विरुद्ध सीधे उच्च न्यायालयों में अपील की जा सकती है। लेकिन ऐसा तभी किया जा सकता है जबकि उस मामले में विधि या तथ्य का कोई गम्भीर प्रश्न अन्तर्निहित हो । इसके अतिरिक्त जब कोई निम्न न्यायालय अपने से निम्न स्तर के न्यायालय के विरुद्ध

किसी अपील पर निर्णय देता है, तो उस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध भी कानून या प्रक्रिया के प्रश्न के आधार पर उच्च न्यायालय में दूसरी बार अपील की जा सकती है। अधिकांश उच्च न्यायालयों में प्रारम्भिक तथा अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत किसी एक न्यायाधीश द्वारा लिये गये निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में पुनः अपील की जा सकती है।

फौजदारी अपील के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के न्यायिक निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती है।

(1) उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक फौजदारी अधिकार के अन्तर्गत लिया गया निर्णय।

(2) किसी सत्रीय न्यायाधीश या अतिरिक्त सत्रीय न्यायाधीशों द्वारा लिया गया निर्णय ।

(3) किसी उपसत्रीय न्यायाधीश या किसी मजिस्ट्रेट द्वारा लिया गया निर्णय यदि इस मामले में सजा की अवधि 4 वर्ष से अधिक हो ।

(4) किसी प्रेसिडेन्सी मजिर्स्टेट द्वारा लिया गया निर्णय ।

(5) भारत दण्ड संहित की धारा 124 (क) के अन्तर्गत किसी जिला न्यायाधीश का निर्णय।

संविधान लागू होने के पूर्व राजस्व या उसके संग्रह मामले सम्बन्धी उच्च न्यायालय में नही जा सकते थे, लेकिन अब यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया है। आयकर बिक्रीकर आदि के मुकदमों के लिए जो विविध न्यायाधिकरण स्थापित किये गये हैं, उनके फैसलों के विरुद्ध भी उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। उच्च न्यायालयों को पेटेण्ड और डिजाइन, उत्तराधिकार, भूमिप्राप्ति, दिवालियापन और संरक्षता से सम्बन्धित मुकदमों की अपील सुनने का भी अधिकार प्राप्त है।

3. लेख जारी करने का अधिकार : मूल संविधान के अनुच्छेद 225 के द्वारा उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों को लागू करने तथा अन्य उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लेख, आदेश तथा निदेश करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

4. न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति : न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का आशय है संवैधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून की संविधान के आधार पर जाँच, और संविधान के विरुद्ध पाये जाने पर अवैध घोषित करना। संविधान के द्वारा उच्च न्यायलायों को अधिकार है कि वे किसी भी ऐसे संवैधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून को अवैधानिक घोषित कर दे, जो संविधान के लेख जारी करने के विपरीत हो।

42वें वंवैधानिक संशोधन द्वारा उच्च न्यायालयों को लेख जारी करने की शक्ति व न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित कर दिया गया था तथा न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया था, लेकिन 43वें संवैधानिक संशोधन (1977) द्वारा 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा उत्पन्न की गयी स्थिति को समाप्त कर दिया गया है और अब उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में वही स्थिति और शक्ति प्राप्त हो गयी है, जो 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व थी।

5. उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय : सर्वोच्च न्यायालय की भाँति उच्च न्यायालय भी एक अभिलेख न्यायालय है अर्थात् इसके निर्णयों को प्रमाण के रूप में अन्य न्यायालयों में पेश किया जा सकता है तथा उन्हें किसी न्यायालय में पेश किये जाने पर उनकी वैधानिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। उच्च न्यायालय के द्वारा अपने अवमान के लिए किसी भी व्यक्ति को दण्डित किया जा सकता है।

6. न्यायिक क्षेत्र में प्रशासन की शक्तियाँ : उच्च न्यायालय की न्यायिक शक्ति के अतिरिक्त अपने राज्य की समस्त न्यायव्यवस्था के क्षेत्र में व्यापक प्रशासनिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। यह राज्य की समस्त न्यायव्यवस्था पर निम्न प्रकार के नियन्त्रण रखता है।

(1) अनुच्छेद 227 के अनुसार उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों और न्यायाधिकरणों पर निरीक्षण का

अधिकार रखता है। अपने इस अधिकार के अन्तर्गत वह अपने अधीन न्यायालयों से किसी भी मुकदमे से सम्बन्धित कागजात मंगवाकर देख सकता है।

(2) संविधान के अनुच्छेद 228 के अनुसार उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि अगर निम्न न्यायालय के विचाराधीन किसी मुकदमे में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्न अन्तरग्रस्त, हो तो वह उस मुकदमे को अपने पास मंगा सकता है। इस सम्बन्ध में तो उच्च न्यायालय स्वंय ही मुकदमे का फैसला कर सकता है या केवल कानून के प्रश्न को निर्धारित कर निम्न न्यायालय को उस मुकदमे का फैसला करने के सम्बन्ध में निर्देश दे सकता है।

(3) उच्च न्यायालय किसी विवाद को एक अधीन न्यायालय से दूसरे अधीन न्यायालय में भेज सकता है।

(4) अधीन न्यायालय की कार्य पद्वति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा हिसाब इत्यादि रखने के सम्बन्ध में भी उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के लिए नियम बना सकता है।

(5) अधीन न्यायालयों के शेरिफ, क्लर्क, अन्य कर्मचारी तथा वकील, आदि के वेतन, सेवा शर्ते और फीस निश्चित कर सकता है।

(6) वह जिला न्यायालय तथा सबसे छोटे न्यायालयों के अधिकारियों की नियुक्ति, पदावनति, और छुट्टी इत्यादि के सम्बन्ध में नियम बना सकता है।

(7) उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की शक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पास होती है।

प्रशासनिक न्यायाधिकार्यो की स्थापना : 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संसदीय कानून के आधार पर प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना की व्यवस्था की गयी है। यह व्यवस्था सेवाओं से सम्बन्धित विवादों पर शीघ्र निर्णय के लिए की गयी है। संघ और राज्य की लोक सेवाओं में भर्ती और सेवा शर्तो के सम्बन्ध में जो विवाद होंगे, उनकी सुनवाई इन न्यायाधिकरणों के द्वारा की जायेगी । संघ के **लिए** इसी प्रकार का एक न्यायाधिकरण होगा और प्रत्येक राज्य के लिए एक अथवा दो या अधिक राज्यों के लिए संयुक्त रूप से न्यायाधिकरण स्थापित किया जा सकेगा व्यवहार में कुछ ही राज्य सरकारों द्वारा इस प्रकार के न्यायाधिकरण स्थापित किये गये हैं।

17.2.2 न्यायाधीशों का स्वतंत्रता

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए संविधान के द्वारा वैसे ही उपबन्धों की व्यवस्था की गयी है जैसे उपबन्धों की व्यवस्था सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए है। संक्षेप में, ये उपबन्ध निम्नलिखित हैं :

(1) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और यह नियुक्ति न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों के परामर्श के आधार की जाती है।

(2) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल सुरक्षित है। न्यायाधीश अवकाश ग्रहण की आयु तक कार्य करते हैं और इस अवधि से पूर्व न्यायाधीशों को महाभियोग की विशेष प्रक्रिया के आधार पर ही हटाया जा सकता है।

(3) उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय तथा उन उच्च न्यायालयों जिनका वह न्यायाधीश नही रह चुका है, को छोड़कर अन्य किसी न्यायालय या पदाधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता है।

(4) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन संविधान द्वारा निश्चित कर दिया गया है और पद ग्रहण के बाद उनके वेतन, भत्ते, आदि में कोई कमी नही की जा सकती। वेतन, भत्ते तथा छुट्टी के सम्बन्ध में नियम का अधिकार संसद की प्राप्त है, न कि--राज्य के विधानमण्डल को।

(5) न्यायाधीशों का वेतन तथा उच्च न्यायालय का प्रशासनिक व्यय संघ या राज्य सरकार की संचित विधि पर भारित है, इसलिए उन पर संसद या राज्य विधानमण्छल में मतदान नही हो सकता।

(6) उच्च न्यायालय के अधिकारियों की नियुक्ति इस न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश करता है तथा उनकी सेवा शर्ते भी वही निर्धारित करता है।

इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा उच्च न्यायालयों को पूर्ण स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी है और भारतीय संघ के विभिन्न उच्च न्यायालयों के अब तक के कार्य आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च न्यायालय अपने कर्त्तव्यपालन में पूर्णवया स्वतन्त्र और निष्पक्ष रहे है।

17.2.3 न्यायाधीशों का स्थानान्तरण

संविधान के अनुच्छेद 222 के अधीन राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण कर सकता है। इस स्थानान्तरित किये गये न्यायधीश को वेतन के अतिरिक्त ऐसे प्रतिकारात्मक भत्ते भी दिये जायेंगे जैसा कि संसद विधि द्वारा निर्धारित करे।

भारत संघ बनाम एकलबन्द के मामले में राष्ट्रपति की उस अधिसूचना को, जिसके, द्वारा गुजरात उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश को आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित कर दिया गया था, इस आधार पर चुनौती दी गयी थी कि स्थानान्तरण आदेश सम्बन्धित न्यायाधीश की सहमति से नहीं पारित किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने 3 : 2 बहुमत से पिटिशनर के उपयुक्त तर्क को स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को बिना उसकी सम्मति के स्थानान्तरित किया जा सकता है। सथानान्तरण की शक्ति जनहित में प्रयोग करने के लिए प्रदान की गयी है, न कि किसी न्यायाधीश को, जो कार्यपालिका के अनुसार कार्य नही करता है, दण्ड देने के लिए नहीं किया जा सकता । यह न्यायापालिका की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अनुच्छेद 222 के अधीन राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का प्रयोग भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से करने के लिए बाध्य है। यह एक पूर्ववती शर्त है जिसका पूरा होना आवश्यक है। इस परामर्श का प्रभावी होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधिपति से राय लेते समय राष्ट्रपति को सभी आवश्यक तथ्यों को, जो उसे उपलब्ध है, उसके समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए।

एस0 पी0 गुप्ता और अन्य बनाम राष्ट्रपति और अन्य जो न्यायाधीश स्थानान्तरण मामले से प्रसिद्ध है, के मामले में सर्वोच्च न्यायालय को उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति और उनके स्थानान्तरण के सम्बन्ध में काफी विस्तार से विचार करने का अवसर मिला। इस मामले में केन्द्रीय विधि मंत्री के उस परिपत्र को जिनके द्वारा अवर और अन्य न्यायाधीशों के दूसरे उच्च न्यायालयों में नियुक्ति या स्थानान्तरण के लिए अपनी सम्मति देने को कहा गया था, पटना उच्च न्यायालयों में नियुक्ति या स्थानान्तरण के लिए अपनी सम्मति देने को कहा गया था, पटना उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति का मद्रास उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण आदेश तथा दिल्ली उच्च न्यायालय के अपर न्यायधीश की पदावधि को न बढ़ाये जाने के आदेश को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि इसके कारण न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अतिकमण होता है, सर्वोच्च न्यायालय ने 4 : 3 के बहुमत से यह निर्णय दिया कि विधिमन्त्री का परिपत्र विधिमान्य है और इससे अनुच्छेद 217 और 222 का उल्लंघन नहीं होता है। पटना उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के0 वी0 एन0 सिंह के मद्रास उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण को न्यायालय ने 4 : 3 न्यायाधीश के बहुमंत से इस आधार पर विधिमान्य घोषित किया कि उनका स्थानान्तरण लोकहित में किया गया था। बहुमत ने निर्णय दिया कि अनुच्छेद 222 के अधीन न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के लिये उनकी "सम्मति" लेना आवश्यक नहीं है। अनुच्छेद 222 केवल यह अपेक्षा करता है कि स्थानान्तरण भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श

से हो और लोकहित में व्यक्ति किये मत की पुष्टि करते हुए निर्णय दिया कि स्थानान्तरण के मामले में न्यायाधीश की सम्मति आवश्यक नहीं है। न्यायाधिपति के0 बी0 एन0 सिंह के नजदीकी सम्बन्धी को कुछ व्यक्ति गलत ढंग से प्रयोग कर रहे थे जिसके कारण पटना उच्च न्यायालय के संचालन में भारी सन्देह और असन्तोष व्याप्त हो गया था। इस स्थिति का निराकरण लोकहित का विषय था।

17.2.4 उच्च न्यायालय की भूमिका

पिछले कुछ वर्षो से उच्च न्यायालयों की भूमिका की अनवरत आलोचना की जा रही है जिसके निम्नलिखित आधार हैं :

(1) उच्च न्यायालयों में मुकदमों का अम्बार लगा हुआ है और वे शीघ्र न्याय प्रदान में करने में असमर्थ रहे हैं।

(2) उच्च न्यायालयों में पर्याप्त संख्या में न्यायाधीशों का अभाव है और न्यायिक रिक्तियों को भरने में विलम्ब किया जाता है। सरकारिया आयोग को एक राज्य सरकार ने यह बताया कि उनके द्वारा भेजे गये नामों को जिनका कि मुख्य न्यायमूर्ति, राज्यपाल और मुख्यमंत्री ने सर्वसम्मति से समर्थन किया था, दो वर्ष से भी अधिक समय तक अनुमोदित नही किया गया था। चाहे जो भी स्थिति हो, प्राक्कलन समिति की रिपोर्ट से यह स्पष्टत: पता चलता है कि न्यायाधीशां, चाहे जो भी स्थिति हो, की रिक्तियों को भरने में कभी कभी चार वर्ष तक का अत्यधिक बिलम्ब किया गया है।

(3) उच्चकोटि के वकील उच्च न्यायालय में न्यायाधीश बनना पसन्द नहीं करते जिससे अनेक उच्च न्यायालयों में ऐसे व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त किये गये जिनकी योग्यता की श्रेष्ठता सन्देहास्पद मानी जाती है।

(4) अनेक उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के रिश्तेदार भी वकालत का पेशा करते हैं जिससे निष्पक्षता प्रभावित होने लगी है।

सरकार की भूमिका भी न्यायालयों को नियन्त्रित करने की रही है। आपातकाल में 16 उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण किये गये जिसका कारण राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति नही था। 1976 में बम्बई उच्च न्यायालय के अतिरिक्त न्यायाधीश यू0 आर0 ललित की पदावधि इसलिए नही बढ़ायी गयी क्योंकि उन्होंने आपातकाल के बावजूद कतिपय विधार्थियों की जमानत अर्जी स्वीकार की थी। इसी प्रकार 1976 में दिल्ली उच्च न्यायालय के अतिरिक्त न्यायाधीश आर0 एन0 अग्रवाल की पदावधि में वृद्धि नहीं की गयी क्योंकि उन्होंने पत्रकार कुलदीप नय्यर को छोड़ने के आदेश दिये। कई उच्च न्यायालयों में सरकार लम्बे समय तक कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश बनाये रखती है और वरिष्ठता के बावजूद उन्हें स्थायी नहीं करती। हाल ही में राजस्थान उच्च न्यायालय के कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश मिलापचन्द जैन की वरिष्ठता की उपेक्षा करते हुए इलाहाबाद का बनाया गया जबकि श्री जैन उनसे वरिष्ठ हैं, लम्बे समय तक कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश के रूप में कार्य करते रहे हैं। इसे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर अतिक्रमण माना गया और राजस्थान उच्च न्यायालय की बार के वकीलों ने लम्बे समय तक हड़ताल की।

सरकारिया आयोग ने भी इस प्रश्न पर विचार किया था और सिफारिश की है कि :

(1) उच्च न्यायलय के न्यायाधीशों का उनकी सहमति के बिना स्थानान्तरण नहीं किया जाना चाहिए।

(2) किसी न्यायाधीश के स्थानान्तरण के प्रस्ताव के सम्बन्ध में न्यायाधीश की प्रतिक्रिया और कठिनाइयों यदि कोई हो, को ध्यान में रखने के बाद भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दी गयी सलाह राष्ट्रपति द्वार विवेकानुसार अवश्य स्वीकार कर ली जानी चाहिए।

17.3 सारांश

भारत में संघीय शासन प्रणाली है। राज्यों में उच्च न्यायालय का गठन किया गया, किन्तु अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय ही उच्चतम स्तर पर स्थित है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य कुछ न्यायधीश होंगे।

उच्च न्यायालय के न्याय सम्बन्धी क्षेत्र को दो भाग में बाँटा जा सकता है, प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र एवं अपीलीय क्षेत्राधिकार। न्यायालय का लेख जारी करने का भी अधिकार होता है, एवं न्यायिक पुनर्विलोकन की भी शक्ति होती है। उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायलय के रूप में कार्य करता है। न्यायिक क्षेत्र में उच्च न्यायालय को प्रशासनिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं।

उच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता के लिए संविधान में कुछ व्यवस्था की गयी है, एवं उच्च न्यायालय के न्यायधीशों के स्थानान्तरण का मुद्दा भी बहुत आलोचनाओं को जन्म दिया।

भारत में उच्च न्यायालय की भूमिका अनवरत आलोचनओं का शिकार रही है। सरकारिया आयोग ने भी इसकी स्वतन्त्रता के लिए कुछ सुझाव दिए। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उच्च न्यायलय भारतीय संधीय व्यवस्था के अनुकूल है।

17.4 कुंजी शब्द

1. सत्रीय न्यायाधीश
2. लेख
3. अभिलेख
4. न्यायधिकरण
5. न्यायाधीश स्थानान्तरण

17.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के संगठन एवं कार्यो और अधिकारों की विवेचना कीजिए।
   उत्तर- ()
2. उच्च न्यायालय के संघठन पर प्रकाश डालें एवं उसकी कार्यशैली की समीक्षा कीजिए।
   उत्तर- ()
3. उच्च न्यायालय की भूमिका पर प्रकाश डालें।
   उत्तर- ()

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

4. टिप्पणी दीजिए।
   (क) न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता
   (ख) न्यायिक पुनर्विलोकन
   (ग) न्यायधीशों का स्थानान्तरण

17.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1.	भारतीय संविधान	:	पायली
2.	भारतीय संविधान एवं शासन	:	आर0 एस0 माथुर
3.	संविधान की आत्मा	:	सुभाष कश्यप

❖❖❖

संविधान का संशोधन

पाठ संरचना

18.0 भूमिका

18.1 उद्देश्य

18.2 संशोधन की प्रक्रिया

18.2.1 संशोधन प्रक्रिया में दोष

18.2.2 42वें एवं 44वें संशोधन

18.2.3 संशोधन के अधिकार असीमित नहीं ।

18.3 सारांश

18.4 कुंजी शब्द

18.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

18.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

अनुच्छेद - 368

18.0 भूमिका

भारतीय संविधान के निर्माता संविधान की अनिवार्यता से अवगत थे । वे जानते थे कि संशोधन प्रक्रिया के अभाव में इसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा या भविष्य में इसका स्वत: अंत हो जाएगा तथा इसका अंतिम क्रांति होगी। अत: संविधान में ही इसकी संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख कर दिया गया। पंडित नेहरू के सुंदर शब्दों में इसे अभिव्यक्त किया जा सकता है- ''हम इस संविधान को अधिक से अधिक ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं । किन्तु संविधान स्थायी नहीं होते । इसमें कुछ लचीलापन भी होना चाहिए। यदि इसे कठोर और स्थायी बना दें तो आप राष्ट्र का विकास अवरुद्ध कर देंगे। यह एक जीवंत प्राणवान विकासमान जनता का विकास हम इस संविधान को इतना कठोर नहीं बना सकते कि परिवर्त्तित दशाओं में इसे अनुकूलित न किया जा सके। जब संपूर्ण विश्व परिवर्त्तन से गुजर

रहा है और हम एक तीव्र गति होनेवाले संक्रमण का अनुभव कर रहे हैं तो हम आज जो कर रहे हैं, वह कल के लिए अनुपयुक्त हो सकता है।

18.1 उद्देश्य

संविधान विकासशील होता है। इसी प्रसंग में सर हेनरी मैने ने कहा कि संविधान निर्मित ही नहीं, अपितु विकसित होते हैं। इस उक्ति में सत्यता की मात्रा जो भी हो इतना तो सर्वमान्य ही है किं कोई भी संविधान अपने अंतिम रूप को प्राप्त नहीं कर पाया है। यह हमेशा विकास के योग्य होता है। लार्ड ब्राउधम ने कहा था कि, यदि संविधानों का कोई मूल्य है तो उन्हें विकासशील होना चाहिए। उनकी भी जड़ें होती हैं, वे पोखते तथा दृढ़ होते हैं।

तात्पर्य यह है कि मानव समाज विकासशील है। समय के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ व परिरिस्थतियाँ बदलती हैं। इसलिए उनमें उत्तम संविधान का यह गुण होना चाहिए कि वह समय की माँग को परिलक्षित करें। अतः आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों से परिवर्तन के साथ संविधान में भी अनुकूल परिवर्त्तन आवश्यक हैं। विल्सन के शब्दों में - संविधान कों निश्चित रूप से जीवनप्रेरक होना चाहिए। इसके तत्त्व हैं- राष्ट्र के विचार और स्वभाव। अतः राष्ट्रीय जीवन में परिवर्त्तन के साथ इसका विकास आवश्यक है।

संविधान के विकास के तीन प्रमुख साधन हैं। रीति रिवाज एवं अभिसमय। न्यायिक निर्णय संशोधन की प्रक्रिया वर्त्तमानकाल के अधिकांश संविधानों, खासकर निम्नलिखित एवं संघात्मक संविधान के विकास के सर्वप्रमुख स्रोत संशोधन और औपचारिक प्रक्रिया है जिनका उल्लेख संविधान के प्रलेख में कर दिया जाता है। संशोधन प्रक्रिया को प्रत्येक लिखित संविधान का अनिवार्य तत्त्व माना जाने लगा है। गवर्नन ने तो यहाँ तक कहा है- कोई भी लिखित संविधान संशोधन की विधि के उपबंधों के बिना अपूर्ण है। मानव समाज को समय गुजरने के साथ साथ उन्नत और विकसित होना चाहिए और यदि उसके आंतरिक विकास की आवश्यकता के अनुसार ऐसे संविधान में समन्वय करने की धारा नहीं बनाई जाती तो वे गतिहीन या अप्रगतिकारी हो जाएंगे।

एस्मिन ने भी कहा है कि प्रत्येक जटिल तथा लिखित संविधान में संशोधन तथा परिवर्द्धन की प्रक्रिया का उल्लेख अवश्य रहना चाहिए, अन्यथा उसे अतार्किक तथा बुद्धिहीन ही कहा जाएगा। स्पष्ट है कि संशोधन की प्रक्रिया का संविधान में उल्लेख होना कितना महत्त्वपूर्ण है।

सामान्यतः तीन संशोधन प्रणालियों का सभी संविधानों ने आश्रय लिया है-

(1) विधानसभा विधियों की प्रक्रिया से संविधान का संशोधन कर सकती है।

(2) संशोधन के लिए साधारणतः विधानसभा में एक विशिष्ट प्रक्रिया का आश्रय लिया जा सकता है।

(3) संशोधन के लिए जनता की अनुमति प्राप्त करने हेतु जनमत संग्रह की प्रकिया को अपनाया जा सकता है।

18.2 संशोधन की प्रक्रिया

भारतीय संविधान के निर्णमताओं ने विश्व के अन्य संविधानों में वर्णित संशोधन-प्रक्रियाओं की प्रकृति तथा कार्यकारण से लाभ उठाया। संघात्मक संविधान प्रायः अनम्य होते हैं, क्योंकि इनके संशोधन की विधि प्रायः जटिल होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा स्विटजरलैण्ड के संविधान इसके उदाहरण हैं। दूसरी ओर इंगलैण्ड का संविधान अत्यधिक नम्य है। भारतीय संविधान के निर्माता दोनों अतिरंजित स्थितियों से बचना चाहते थे। एक ओर तो वे चाहते थे कि संविधान अत्यधिक जटिल न हो: क्योंकि वे एक ऐसे प्रलेख का निर्माण करना चाहते थे जो राष्ट्रीय जीवन के विकास के साथ विकसित हो सके तथा बदलती परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल अपने रूप को बदल सके। उन्होंने महसूस किया कि अगर संविधान में समयानुकूल सफलतापूर्वक परिवर्त्तन न आ सका तो उसका अंत

आवश्यमभावी है। दूसरी ओर अगर संविधान एकदम नम्य हो तो यह शासक दल के हाथ का खिलौना बन जाएगा तथा राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का अनुशासित विकास करने में असमर्थ होगा। अत: संविधान निर्माताओं ने मध्य का मार्ग अपनाना निश्चित किया अर्थात वे एक ऐसे संविधान का निर्माण करना चाहते थे जो न अत्यधिक परिवर्त्तनशील हो और न अत्यधिक दुष्परिवर्तनशील। डा0 अम्बेदकर ने संशोधन की इस नवीन योजना को इन शब्दो में व्यक्त किया - हम संविधान के अनुच्छेदों को तीन वर्गो में विभाजित करने का विचार रखते हैं। पहले वर्ग में वे अनुच्छेद होंगे जो संसद के द्वारा साधारण बहुमत से संशोधित किए जा सकेंगे। उदाहरण के लिए वे उपबंध होंगें जिनका संबंध राज्यों में विधानपरिषदों की स्थापना व उन्मूलन से है। दूसरे वर्ग में वे अनुच्छेद होंगे जिनके संशोधन के लिए संसद में दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होगी । मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्व इस वर्ग के उदाहरण हैं। तीसरे वर्ग में वे अनुच्छेद होंगे जिनका संशोधन यदि संसद द्वारा हो तो संविधान द्वारा निश्चित शासन पद्धति पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। राज्यों तथा संघ के मध्य शक्ति के वितरण संबंधी उपबंध इसी श्रेणी में आ सकते हैं।

इस प्रकार, भारतीय संविधान के संशोधन के लिए तीन प्रणालियों को अपनाया गया है :

(क) साधारण विधि तथा संशोधन की प्रक्रिया

(ख) संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया

(ग) विधानमण्डलों की स्वीकृति के साथ संशोधन की प्रक्रिया

सच पूछा जाए तो प्राविधिक दृष्टिकोण से प्रथम प्रक्रिया को संशोधन की संज्ञा नहीं दी जा सकती, लेकिन प्रत्यक्षत: संविधान से संबद्ध होने के कारण सामान्यत: इसे सांविधानिक संशोधन ही कहा जाता है। वस्तुत: संशोधन प्रक्रिया का वर्णन अनुच्छेद 368 में किया गया है जिसमें संसद के विशिष्ट बहुमत तथा राज्य विधानमंडलों की स्वीकृति से संशोधन की व्यवस्था की गई है।

कुछ अनुच्छेदों में विधि की सारधारण प्रक्रिया द्वारा संशोधन लाने की व्यवस्था की गई है। संसद के साधारण बहुमत द्वारा पारित होने पर तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने पर संविधान में संशोधन लाया जा सकता है। संसद स्वविवेक से या विधानमण्डलों या किसी अन्य अधिकारी के अनुरोध पर उस प्रकार का संशोधन ला सकती है। राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से संसद विधि के द्वारा नए राज्यों का निर्माण कर सकती है, किसी राज्य के क्षेत्र को घटा या बढ़ा सकती है। किसी राज्य की सीमा में परिवर्त्तन कर सकती है तथा राज्यों के नाम को बदल सकती है। स्वविवेक से संसद कतिपय अनुच्छेदों में संशोधन ला सकती है। उदाहरणार्थ नागरिकों तथा अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन से संबद्ध अनुच्छेदों में। वह राज्य विधानमंडलों के अनुरोध पर राज्यों में उच्च सदन की सृष्टि कर सकती है।

साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया संविधान में संशोधन लाने की यह सरलतम प्रक्रिया है। यह संविधान की नम्यता का घोतक है। इसमें साधारण विधि तथा सांविधानिक विधि में किसी प्रकार का विभेद नहीं किया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में संशोधन लाने के लिए इसी को अपनाया जाता है। भारतीय संविधान में इसे संशोधन नहीं समझा गया। फिर भी, व्यावहारिक, दृष्टिकोण में यह संविधान के संशोधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इस प्रक्रिया के द्वारा संविधान का संशोधन कई बार किया जा चुका है। राज्य पुनर्गठन विधेयक, 1956 द्वारा भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया। 1971 ई0 में नागालैण्ड राज्य का निर्माण किया गया। केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के गठन सीमा परिवर्त्तन किया गया तथा प्रशासन के संबध के अनेक बार विधेयक पारित्त किए गए। नागरिक अधिनियम 1955 द्वारा नागरिकों के संबंध में व्यापक कानून बनाया गया तथा कई राज्यों में विधान परिषदों का निर्माण किया गया।

संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया : संविधान के संशोधन का विधेयक संसद के किसी

भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। यदि उस सदन में कुल सदस्य के अधिकांश उपस्थित हों और मतदान में भाग लेनेवाले सदस्यों के दो तिहाई मतों से उस विधेयक को पारित कर दिया जाए तो वह दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। दूसरे सदन में भी इस प्रकार पारित होने के बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपतिकी अनुमति मिलते ही वह संशोधन संविधान का अंग बन जाता है। संविधान के कतिपय विशिष्ट उपबंधों जैसे – न्याायपालिका तथा राज्यों के अधिकारों एवं शक्तियों को छोड़कर अन्य सभी उपबंधों का संशोधन इसी प्रक्रिया द्वारा होता है। यह प्रक्रिया पहली प्रक्रिया की अपेक्षा जटिल है। इसे इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अपनाई गई प्रक्रियाओं के बीच का रूप कह सकते हैं।

राज्य विधानमंडलों की स्वीकृति के साथ संशोधन की प्रक्रिया : संविधान के कुछ,उपबंधो में संशोधन लाने के लिए विधेयक को संघ के दोनों सदनों द्वारा उपयुक्त रीति से पारित करने के अतिरिक्त राज्यों के कुल विधानमंडलों के कम से कम आधे द्वारा अनुसमर्थन है। संविधान के निम्नलिखित उपबंध इस प्रक्रिया द्वारा संशोधित होते है।

(1) राष्ट्रपति का निर्वाचन (अनुच्छेद-54)
(2) राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति (अनुच्छेद-73)
(3) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद-162)
(4) राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद-73)
(5) केन्द्रशासित राज्यों के लिए उच्च न्यायालय (अनुच्छेद-24)
(6) संघीय न्यायपालिका (भाग छह का पाँचवां अध्याय)
(7) राज्यों में उच्च न्यायालय (भाग छह का पाँचवां अध्याय)
(8) संघ तथा राज्यों में विधायी संबंध (भाग ग्यारह का पहला अध्याय)
(9) सातवीं अनुसूची की कोई भी सूची
(10) संविधान के संशोधन से संबद्ध उपलेख अनुच्छेद 368 में किया गया है।
(11) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व

तीसरी प्रक्रिया के संशोधन से संबद्ध उपबंध जिसका उल्लेख अनुच्छेद 365में किया गया है, मुख्यत: संविधान के संघीय स्वरूप से है। अमेरिका, आस्ट्रलिया व स्विटजरलैण्ड की संशोधन प्रणालियों के अनुरूप यह प्रणाली है। अनुसमर्थन की व्यवस्था का प्राथमिक उद्देश्य जल्दबाजी में पारित तथा अधकचरे संशोधन पर रोक लगाना है (डी0 के0 सेन)।

भारतीय संविधान में अपनाई गई उपयुक्त प्रणालियों से स्पष्ट है कि यह नम्यता तथा अनम्यता का अपूर्व सम्मिश्रण है। संविधान के अनुच्छेदों को दो भागों में बाँट दिया है- साधारण उपबंध तथा संरक्षित उपबंध। संरक्षित उपबंध संविधान के मौलिक स्वरूप को निर्धारित करते हैं। साधारण उपबंधों के लिए सरलतम तथा संरक्षित उपबंधो के लिए क्लिष्ट संशोधन प्रणालियों को अपनाया गया है। जहाँ तक संविधान की जटिलता का प्रश्न है, सर आइवर जेनिंग्स की यह आलोचना कि भारतीय संविधान अत्यधिक जटिल है, गलत है। विश्व के किसी भी संधात्मक संविधान से यह अधिक नहीं है। इसके विपरीत आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से यह अधिक नम्य है।

18.2.1 संशोधन प्रक्रिया में दोष

भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया की आलोचना का मुख्य कारण यह है कि कुछ बातों को संदिग्धावस्था में छोड़ दिया गया है।

मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) अगर किसी संशोधन के विषय में संसद के दोनो सदनों में मतभेद हो जाए तो इस गतिरोध को कैसे दूर किया जाएगा। इस गूढ़ प्रश्न पर संविधान मौन है। शंकरी प्रसाद बनाम भारतीय संघ (1951 ई0) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार व्यक्त किया कि किसी संशोधन विधेयक के संबंध में संसद के दोनों सदनों में मतभेद होने पर साधारण विधेयक की भाँति उसको संयुक्त अधिवेशन द्वारा दूर किया जा सकता है।

(2) संविधान यह स्पष्ट नहीं बताता है कि किसी संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने की व्यवस्था है जबकि अमेरिका में ऐसे विधेयकों को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत नही किया जाता हैं। इस संबध में दुर्गादास बसु का विचार है कि आयरलैण्ड के राष्ट्रपति की भाँति भारत के राष्ट्रपति का भी अधिकार है कि अगर अनुच्छेद 368 में वर्णित प्रक्रिया का अनुकरण न किया गया हो तो राष्ट्रपति स्वीकृति देने से इंकार कर सकता है।

(3) संविधान यह निर्धारित करता है कि कितने समय के अंदर राज्य विधानमंडलों को संशोधन विधेयक अनुसमर्थित करना चाहिए या अनुसमर्थित करने से इंकार कर देना चाहिए। राज्य विधानमंडल देरी की नीति को अपनाकर विधेयकों को सदा के लिए समाप्त कर सकते हैं।

(4) राज्यों को संविधान के संशोधन में भाग लेने का अवसर बहुत कम दिया गया है। यह संघीय सिद्धांत की उपेक्ष है। संशोधन को प्रारंभ करने का अधिकार केवल संसद को प्राप्त है। राज्यों को सांविधानिक संशोधन का अधिकार नहीं है। राज्य की विधानसभा केवल विधानपरिषद के निर्माण या समाप्ति का प्रस्ताव ला सकती है। इसके अतिरिक्त केवल कुछ ही उपबंधों के संबंध में राज्य विधानमंडलों की स्वीकृति की आवश्यकता है।

(5) सिर्फ राज्यों को ही नहीं, बल्कि नागरिकों को भी संशोधन की प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित किया गया है। स्विटजरलैण्ड के संविधान की भाँति लोकप्रिय आरंभण की व्यवस्था भारतीय संविधान में नहीं है।

(6) संशोधन प्रक्रिया के विरुद्ध गंभीर आरोप यह है कि हर सांविधानिक विधेयक को हर प्रकार से साधारण विधेयकों के स्तर पर ला दिया गया है। संशोधन विधेयक को एक बिल के रूप में पेश किया जाता है। संसद के किसी भी सदन में इसे शुरू किया जा सकता है। इसे पारित करने की प्रक्रिया साधारण विधेयक की प्रक्रिया के समान है। इसकी स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के हस्ताक्षर की आवश्यकता पड़ती है। अमेरिका में संशोधन प्रस्ताव के रूप में नहीं, बल्कि कांग्रेस के प्रस्ताव के रूप में रखे जाते हैं तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं रहती। आस्ट्रेलिया के संबिधान में भारत के संविधान की तरह संशोधन विधेयक का रूप साधारण विधेयक की भाँति है। इस संबध में आस्ट्रेलिया की नकल करते समय हमारे संविधान निर्माता यह भूल गए कि आस्ट्रेलिया का संविधान विधायिका सभा का एक विधेयक है जबकि भारतीय संविधान एक संप्रभु संविधानसभा की कृति है।

(7) आलोचकों का कहना हैकि संशोधन के उपबंध जटिल हैं जब संविधानसभा सिर्फ साधारण बहुमत से संविधान का निर्माण कर सकती है, तब संसद पर दो तिहाई बहुमत का बंधन क्यों थोपा गया? कुछ वर्षो तक संसद को साधारण बहुमत से संविधान में संशोधन लाने का अधिकार मिलना चाहिए था। आलोचकों को भय इस बात का है कि संसद तथा राज्य विधानमंडलों में बहुदलीय प्रथा के जम जाने पर संशोधन लाना अत्यंत कठिन हो जाएगा। फलत: संविधान अनम्य हो जाएगा। डॉ0 जेनिंग्स का कहना है कि भारतीय संविधान कठोर है।

18.2.2 मुख्य संशोधन 42वें और 44वें

1. पृष्ठभूमि : 42वें संशोधन भारतीय संविधान का सबसे व्यापक मौलिक और महत्वपूर्ण संशोधन है। सितम्बर 1976 में यह संशोधन विधेयक संसद द्वारा पारित किया गया। इसमें 59 परिच्छेद थे जिनका संबंध प्रस्तावना, केन्द्र सरकार, राज्य विधानसभा, संसद, न्यायपालिका तथा नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य को पूरे विस्तार तथा सही ढंग से परिभाषित करना था। यह विधेयक 18 दिसंबर 1976 को राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त कर भारतीय संविधान का अंग बन गया।

यह संशोधन विधेयक भारतीय संविधान को पहले से और भी अधिक व्यापक बनाता है। इसके द्वारा संविधान में दो नए भाग और कई अनुच्छेदों के स्थान पर नए अनुच्छेद जोड़े गए और संविधान के कई उपबंधों में परिवर्तन लाया गया।

2. संशोधन क्यों लाया गया : भारतीय संविधान जनता की भावनाओं और मान्यताओं को मूर्त रूप देनेवाला गतिशील संविधान है। संविधान बनाते समय ही इसके निर्माताओं ने इस बात पर जोर दिया था कि कोई भी संविधान चिरस्थायी नहीं हो सकता। किसी भी सफल संविधान को लचीला होना ही होगा जिससे वह जनता की आकांक्षओं को नई परिस्थितियों के अनुकूल साकार रूप देने की पूरी क्षमता रख सके ।

मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के बीच उत्पन्न विवाद को दूर करने के लिए भी संशोधन आवश्यक हो गया। संविधान में मौलिक अधिकारों को प्राथमिकता दी गई थी, यधपि निर्देशक तत्वों को संविधान की आत्मा कहा गया था। अत: संविधान में संशोधन लाकर निर्देशक तत्वों को कानूनी तौर पर प्राथमिकता देना आवश्यक हो गया ।

सत्तारूढ़ दल ने यह भी महसूस किया कि संविधान के बुनियादी ढांचे को मजबूत बनाने के लिए और न्यायपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के स्वप्न को साकार करने के लिए संविधान की भाषा को स्पष्ट कर देना आवश्यक था। इसके लिए भी संविधान में संशोधन करना आवश्यक जान पड़ा ।

42वें संशोधन के पीछे केवल सांविधानिक या कानूनी आवश्यकताएं नहीं थीं, वरन् राजनीतिक कारण भी कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण थे। सरदार स्वर्ण सिंह ने विधेयक की पृष्ठभूमि और आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए स्मरण कराया कि कांग्रेस ने चुनावी घोषणा पत्र में संशोधन के ढांचे में परिवर्तन करने के लिए जनता से आदेश मांगा था, और जनता द्वारा अत्यधिक बहुमत से समर्थन पाने और चुने जाने के बाद वह अपने वायदे को पूरा कर रही है।

3. संशोधन के उद्देश्य : 42वें संशोधन का उद्देश्य संविधान में गुणात्मक परिवर्तन लाना था। उसका मूल उद्देश्य देश की प्रगति का मार्ग प्रशस्त करना था। विधिमंत्री गोखले ने लोकसभा में कहा कि इस संशोधन के पारित हो जाने से पहली बार संसद सर्वोच्चता संदेह से परे हो जाएगी। निर्देशक सिद्धांत बुनियादी अधिकारों से ऊपर हो जाएंगे। गोखले के अनुसार पारित किए जाने की घड़ी संसद के इतिहास में सर्वोत्तम होगी ।

4. संशोधन का विवरण :

1. प्रस्तावना : 42वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में संशोधन लाया गया। संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के स्थान पर संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक धर्मनिरपेक्ष समाजवादी गणराज्य लाया गया। साथ ही राष्ट्र की एकता शब्दों के स्थान पर राष्ट्र की एकता और अखण्डता शब्द रखे गये। धर्मनिरपेक्षतावाद, समाजवाद और राष्ट्रीय अखण्डता के विचार संविधान में निहित हैं, फिर भी प्रस्तावना में उल्लेख कर इन्हे स्पष्ट किया गया।

2. निर्देशक सिद्धांतों को प्राथमिकता : संशोधन द्वारा निर्देशक सिद्धांतों को मौलिकि अधिकारों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। निर्देशक सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों के नाम पर होनेवाले हमलों से बचाया गया

इस उद्देश्य से संविधान के अनुच्छेद 38वीं में संशोधन लाया गया। संशोधन द्वारा कानून के समक्ष समानता, बोलने की स्वतंत्रता तथा संपत्ति का अधिकार आदि बुनियादी अधिकारों पर निजी निर्देशक तत्त्वों की सर्वोपरिता को कायम किया गया।

3. राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर रोक : संशोधन द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह राष्ट्रविरोधी गतिविधियों और संगठनों को रोकने के लिए कानून बनाए। संशोधन में राष्ट्रविरोधी गतिविधियों और राष्ट्रविरोधी संगठनों की परिभाषा व्यापक ढंग से की गई है।

4. सांविधानिक उपचारों के अधिकारों में परिवर्तन : सांविधानिक उपचारों से संबद्ध धारा में एक नई उपधारा 32 (ए) जोड़कर सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों को सीमित करने का प्रयास किया गया है। संशोधन में कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय तब तक किसी राज्य द्वारा बनाए गए कानून की वैधता पर विचार नहीं करेगा जब तक कि उनके साथ किसी केंद्रीय कानून का मामला जुड़ा न हो। उच्च न्यायलय किसी ऐसे मामले पर विचार नहीं करेगा जहां किसी केंद्रीय कानून की वैधता का प्रश्न हो।

5. नीति निर्देशक तत्वों का विस्तार : संविधान के अनुच्छेद 39 में संशोधन लाया गया। यह कहा गया कि बच्चों को स्वस्थ तरीके और स्वतन्त्रता तथा गरिमा के वातावरण में विकास करने के मौके और सुविधाएं दी जाएंगी और सरकार युवकों को शोषण और नैतिक तथा भौतिक भ्रष्टता से बचाने का प्रयास करेगी।

6. मौलिक कर्त्तव्य : 42वें संशोधन की एक मुख्य विशेषता संविधान में मौलिक कर्तव्यों की सूची को जोडते हैं। संविधान में एक नया भाग 6(ए) जोड़ा गया है, जिसमें भारतीय नागरिकों के दस मौलिक कर्तव्य जोड़े गए हैं।

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह :

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शो, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(ख) स्वतंन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदेशों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे।

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे ।

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करें जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आघृत सभी भेदभावों से परे हो। ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्थितियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझें और उसका परिरक्षण करे।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और अन्य वन्य जीव भी हैं, रक्षा करें और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणीमात्र के प्रति दया भाव रखें।

(ज) वैधानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करें।

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।

(ट) व्यक्तिगत सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सत्ता प्रयास करें जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊचाइयों को छू ले।

इन कर्तव्यों का मुख्य उद्देश्य भारतीय नागरिकों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाना है। इंदिरा गांधी ने कहा था – अगर लोग मौलिक कर्तव्यों को केवल अपने दिमाग में रख लेते हैं तो हम तुरंत एक शांतिपूर्ण तथा मैत्रिपूर्ण क्रांति देखेंगे। अत: ये कर्तव्य बहुत ही पवित्र और स्वागत योग्य हैं। फिर, इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उच्च आदेशों की गरिमा से ही नागरिक कर्तव्यपरायण नहीं हो जाते।

संविधान में इसका जिक्र है कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिपद के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा। लेकिन, यह नहीं लिखा

गया कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिए होगा। अब ऐसा लिख दिया गया।

गणपूर्ति के संबंध में संशोधन संविधान द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि संसद के किसी सदन की बैठक में गणपूर्ति के लिए कुल सदस्यों के 1/10 सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक होगी। संशोधन द्वारा कोरम संबंधी उपबंध को समाप्त कर दिया गया। इसके संबंध में नियम बनाने का अधिकार संसद को दे दिया गया। इसी प्रकार, राज्य विधानमंडलों को भी अधिकार दिया गया।

उच्च न्यायालय के न्यायधीशों की योग्यता : यह व्यवस्था की गई कि कोई विशिष्ट विधिज्ञ ही उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त हो सकता है। इस संशोधन द्वारा किसी व्यक्ति की वकालत की अवधि के अंतर्गत उस अवधि को भी जोड़ दिया गया जितने समय तक वह व्यक्ति वकील होने के बाद किसी न्यायाधिकरण का सदस्य रहा हो या कानून विशेष की जानकारी रखनेवाले केंद्र और राज्य सरकार के अधीन किसी पद पर रहा हो ।

अखिल भारतीय न्यायिक सेवा : संशोधन द्वारा अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना का प्रावधान किया गया। संसद कानून बनाकर इस सेवा का निर्माण कर सकती है। जिला न्यायाधीश तक के पद की बहाली इस सेवा से हो सकती है।

प्रशासनिक ट्रिब्यूनल की स्थापना : संसद कानून बनाकर प्रशासनिक ट्रिब्यूनलों की स्थापना करेगी। ये ट्रिब्यूनल केन्द्र और राज्य सरकार, भारतीय सरकार और सरकारी प्राधिकार के कर्मचारियों की नियुक्ति तथा सेवा शर्तों से संबद्ध विवादों का फैसला करेगा।

आपातकालीन स्थिति के संबंध में दो संशोधन लाए गए। पहला संशोधन बाह्य आक्रमण अथवा आंतरिक अशांति या खतरा से संबद्ध है।

संविधान के अनुच्छेद 365 में संशोधन कर संसद को संविधान में संशोधन लाने का अंतिम अधिकार दिया गया। अब यह स्पष्ट कर दिया गया कि संविधान की किसी भी धारा में संशोधन करने के संसद के अधिकार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रहेगा और अनुच्छेद 368 के अंतर्गत किए गए किसी भी संशोधन पर किसी न्यायालय में कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती ।

भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में परिवर्तन लाए गए। इस अनुसूची में संघ तथा राज्य सरकारों के अधिकारों के विभाजन के बारे में तीन सूचियां दी हुई हैं- संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। कुछ विषयों को एक सूची से दूसरी सूची में कर दिया गया ।

6. निष्कर्ष : 42वें संशोधन विधेयक बहुत ही व्यापक परिवर्तन भारतीय संविधान में लाता है। संसद की सर्वोच्चता को स्थापित करना, न्यायालयों के अधिकारों में कटौती करना, मौलिक अधिकारों पर नीति निर्देशक तत्वों की प्राथमिकता कायम करना, मौलिक कर्तव्यों की एक विस्तृत सूची जोड़ना, प्रस्तावना में संशोधन लाना, राष्ट्रपति को विधिवत सांविधानिक प्रधान करार देकर उसे शक्तिहीन बनाना और प्रधानमंत्री को सर्वशक्तिमान बना देना, राष्ट्रविरोधी कार्यो और संगठनों पर बंधन लगाने की विशेष व्यवस्था करना, संसद को सांविधानिक संशोधन पर अंतिम अधिकार प्रदान करना और संशोधन संबंधी दिक्कतों को दूर करने के लिए राष्ट्रपति को अधिकार देना इस संशोधन की मुख्य विशेषताएं हैं। अधिकांश विरोधी दलों द्वारा संसद की बैठकों में विरोध के बावजूद इसे पारित कर संविधान का अंग बनाया गया।

अन्य संशोधन : 44वें संशोधन द्वारा संविधान में कई अन्य तब्दीलियां भी लाई गईं।

1. लोकसभा ने शिक्षा और वन को फिर से राज्य सूची में शामिल करने का प्रयास किया, किंतु राज्यसभा द्वारा स्वीकृत न होने के कारण ये विषय समवर्ती सूची में ही बने रहे।
2. संपति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से निकाल दिया गया जिस कारण यह एक वैधानिक अधिकार मात्र रह गया।

3. लोकसभा ने इस संशोधन विधेयक द्वारा विशेष अदालतों के गठन की व्यवस्था समाप्त करनी चाही, लेकिन राज्य सभा ने पक्ष में निर्णय देकर उन्हें बरकरार रखा।

4. लोकसभा द्वारा पारित संशोधन विधेयक ने किसी भी राज्य में सेना भेजने का अधिकार केन्द्र को दिया था। राज्सभा ने इसमें एक संशोधन किया जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को राज्यों की सहायता के लिए सशस्त्र सेना तथा विशेष पुलिस भेजने का अधिकार केन्द्र को दिया था।
राज्यसभा ने इसमें एक संशोधन किया जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को राज्यों की सहायता के लिए सशस्त्र सेना तथा विशेष पुलिस भेजने का अधिकार नहीं रहेगा।

5. 42वें संशोधन द्वारा विधायकों की अर्हता समाप्त करने का जो अधिकार चुनाव आयोग से छीन लिया गया था, इस संशोधन द्वारा उसे पुनः लौटा दिया गया।

6. इस संशोधन द्वारा लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं के 6 वर्षों के कार्यकाल को (जो बयालिसवें संशोधन में किया गया था) घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया।

7. यह व्यवस्था की गई कि अब राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव से संबद्ध शिकायतों और विवादों का फैसला सर्वोच्च न्यायालय करेगा।

8. अनुच्छेद 74 में संशोधन लाकर यह स्पष्ट कर दिया कि यदि राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के परामर्श का अनुसरण करने के लिए वापस कर दे तो पुनर्विचार के बाद राष्ट्रपति को जो सम्मति प्राप्त होगी, उसका वह अनुसरण करेगा।

9. उच्च न्यायालयों के न्यायाधिशों की नियुक्ति के बारे में यह व्यवस्था की गई कि इस पर नियुक्ति के लिए यह जरूरी होगा कि उम्मीदवार 10 वर्ष न्यायिक अधिकारी रह चुका हो, या एक से अधिक उच्च न्यायालयों में 10 वर्ष वकालत कर चुका हो (42वें संशोधन के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाया जा सकता है।)

10. इस संशोधन के द्वारा संविधान प्रधानमंत्री एवं लोकसभा के निर्वाचन के संबंध में जो विशिष्ट व्यवस्थाएं की गई थीं उसे समाप्त कर दिया गया।

11. 42वें संशोधन द्वारा यह तय कर दिया गया था कि मौलिक अधिकारों के अलावा किन विशेष उद्देश्यों के लिए रिट जारी किया जा सकता है। नए संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई कि उच्च न्यायालय अन्य मामलों में भी रिट जारी कर सकेगा।

12. 42वें संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों की तुलना में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को वरीयता तथा प्राथमिकता दी गई थी। लोकसभा ने 44वें संशोधन में मौलिक अधिकारों को प्राथमिकता दिए जाने का संशोधन किया, लेकिन राज्यसभा उससे सहमत नहीं हुई।

18.2.3 संशोधन अधिकार असीमित नहीं

क्या संविधान में संशोधन करने का संसद का अधिकार असीमित है? यह प्रश्न शुरू से ही न केवल ांविधानिक विवाद का बल्कि राजनीतिक विवाद का भी विषय बना हुआ है। संसद और न्यायालय में इस श्न पर बराबर मतभेद रहा है।

शुरू के वर्षों में आम तौर पर इसे स्वीकार किया जाता रहा कि संसद संविधान में किसी भी प्रकार का शोधन लाने में सक्षम है। सर्वोच्च न्यायालय भी इस मत से सहमत था । यही वजह थी कि संविधान के पहले, ौथे और सत्रहवें संशोधनों द्वारा संसद ने मौलिक अधिकारों को सीमित किया। सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस संशोधनों को चित माना। लेकिन गोलकनाथ (1967ई0) मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने दूसरा ही रुख अपना लिया। उसने यह

निर्णय दिया कि संसद को मौलिक अधीकारों में संशोधन लाने का अधिकार नहीं है। उसने मौलिक अधिकार को पवित्र, सर्वोपरि और आधारभूत माना और यह फैसला दिया कि संसद को सांविधानिक संशोधनों द्वारा मौलिक अधिकार छीनने या सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है।

यह मुद्दा राजनीतिक विवाद का विषय बन गया। संसद में और संसद के बाहर कई राजनीतिक दलों ने, खास कर सत्तारूढ़ दल ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। संसद को उन्होंने सर्वोपरि बताया और इस आशय से संविधान में संशोधन लाने का सुझाव दिया। अंत में, 1971ई0 में 24वें संशोधन द्वारा संसद को अधिकार दे दिया गया। इन संविधानों द्वारा संसद को अधिकार दिया गया कि वह मूल अधिकार सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने 19 अप्रैल 1973 को अपने ऐतिहासिक गोलकनाथ मुकदमा के निर्णय को रद्द कर दिया। उसने संसद को पुनः यह अधिकार दिया कि वह मूल अधिकार में कमी, कटौती या उन्हें पूर्णतः समाप्त कर सकती है। लेकिन साथ साथ संसद पर इतना प्रतिबंध लगा दिया कि जो संशोधन हों, वे संविधान की मूल मान्यताओं, व्यवस्थाओं और भावनाओं के विपरीत न हों।

लेकिन सरकार संसद के अधिकार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं चाहती थी। अतः 42वें संशोधन द्वारा संविधान के संशोधन के संबंध में संसद को अंतिम अधिकार दे दिया गया।

यह कहा कि भविष्य में संसद द्वारा लाए गए संशोधन्रों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। फलतः इस संबंध में संसद का अधिकार अंतिम तथा असीमित हो गया।

इस विवाद ने पुनः 9 मई 1980 को दूसरा मोड़ लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद को संविधान में संशोधन लाने का असीमित अधिकार नहीं है। इसलिए, उसने 42वें संशोधन द्वारा लाए गए कुल परिवर्त्तनों को संविधान के बुनियादी ढांचे के विरुद्ध बताया और अब उन्हें अवैध घोषित कर दिया।

संक्षेप में, वर्तमान स्थिति के मुताबिक संविधान में संशोधन लाने का संसद का अधिकार असीमित नहीं है।

18.3 सारांश

भारतीय संविधान के निर्माता संविधान के संशोधन की अनिर्वायता से अवगत थे। इसलिए संविधान में संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख किया, संविधान विकसशील होता है। मनुष्य आवश्यकताओं के अनुसार संविधान को बदलता है। संशोधन की तीन प्रक्रिया दी गयी है।

साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया

संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया

राज्य विधानमण्डलों की स्वीकृति के साथ संशोधन की प्रक्रिया

भारतीय संविधान में वर्णित संशोधन प्रक्रिया की कुछ विशेषताएं भी हैं।

1. संशोधन कार्य संसद को ही सौंपी गयी है।
2. संशोधन में जनमत संग्रह या जन निर्देशन की व्यवस्था नहीं की गयी है।
3. अनुच्छेद 368 में भी संशोधन किया जा सकता है।
4. भारत में आधे राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है संशोधन के लिए ।
5. राज्य विधानंमण्डलों का संशोधन प्रारम्भ करने की शक्ति नहीं।
6. हमारी संशोधन प्रक्रिया में कुछ दोष भी पाये जाते है।

जैसे दोनों सदनों में मतभेद होने पर यह गतिरोध कैसे दूर हो, इसपर संविधान मौन है। संविधान ने कोई समय नहीं निर्धारित किया है, जिसमें राज्य विधानमण्डल संशोधन विधेयक वापस करे। आलोचकों का कहना है कि संशोधन के

उपबंध जटिल है, इसलिए डा0 जेन्रिंग्स का कहना है कि भारतीय संविधान एक कठोर संविधान है। अभी तक 84 वें संशोधन हो चुके हैं।

18.4 कुंजी शब्द

1. जनमत संग्रह
2. विशिष्ट बहुमत
3. संरक्षित उपबन्ध
4. जन निर्देशन

18.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में संशोधन लाने की क्या प्रक्रिया है? आप अपने संविधान को कठोर कहेंगे या लचीला?
   उत्तर- (18.0 - 18.2.2)
2. भारतीय संविधान अनम्यता एवं नम्यता का अद्भुत सम्मिश्रण है। विवचना कीजिए।
   उत्तर- (18.0 - 18.2.2 और 18.2.4)
3. संशोधन प्रक्रिया का वर्णन करें एवं उसकी समीक्षा करें।
   उत्तर- (18.0 - 18.2.4)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

4. भारतीय संविधान की संशोधन की विशेष प्रक्रिया का उल्लेख करें।
   उत्तर- (18.2)
5. 42वें संशोधन की क्या विशेषताएं थीं?
   उत्तर- (18.2.3)
6. संविधान संशोधन के क्या दोष हैं?
   उत्तर- (18.2.2)

18.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1.	भारतीय शासन की रूप रेखा	:	पन्ना लाल श्रीवास्व्य
2.	भारतीय राजनीतिक व्यवस्था	:	गोविन्द राम वर्मा
3.	भारतीय शासन	:	राम नरेश त्रिवेदी

❖❖❖

लोक सेवा आयोग

पाठ संरचना

19.0 भूमिका

19.1 उद्देश्य

19.2 आवश्यकता

19.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

19.2.2 संगठन एवं कार्य

19.2.3 स्वतन्त्रता

19.2.4 सलाहकारी

19.2.5 दुर्बल पक्ष

19.2.6 बदलती भूमिका

19.2.7 सुधार

19.3 सारांश

19.4 कुंजी शब्द

19.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

19.6 ग्रन्थ सूची

(अनुच्छेद 309–323)

19.0 भूमिका

किसी भी शासन की कार्यकुशलता एवं उसका स्तर दोनों ही चीजें जनसेवा, सदस्यों के शिक्षण तथा अखण्डत पर निर्भर करता है। हमारे देश के शासन का प्रमुख लक्ष्य एक कल्याणकारी समाज की स्थापना करना है, जिसके अन्तर्गत बहुमुखी क्रिया आती है। इन सभी क्रियाओं का सफल क्रियान्वयन राज्य के द्वारा दिये गये हथियारों के द्वा किया जा सकता है। अत: राज्य अपने विशेष लक्ष्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना को प्राप्त करने के लिए लोक सेव

आयोग का गठन केन्द्र तथा राज्य दोनों ही स्तरों पर करता है। भारतीय संविधान रोजगार संबंधी समानता के अधिकार की व्याख्या करता है। भारत सरकार अधिनियम 1935 ने भी केन्द्र तथा राज्य दोनों ही स्तरों पर सेवा आयोग को स्थापित करने का प्रावधान किया। जब भारत 1947 ई0 में स्वतन्त्र हुआ तो इन्हीं सब बातों के आधार पर लोक सेवा आयोग का केन्द्र तथा राज्यों में गठन किया गया।

19.1 उद्देश्य

संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य सेवा आयोग के गठन के अनेक ऐसे कारण थे जिनकी आवश्यकता ने सरकार को इनके गठन के लिए बाध्य किया। भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास हमें यह परिलक्षित करता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के शासन काल में, सरकार को सबसे कुशल व्यक्ति की सेवा प्राप्त करने का अवसर नहीं प्राप्त होता था। उम्मीदवारों के चयन का आधार उनकी विशेषताएँ नहीं होती थीं परन्तु विशेषताओं की अपेक्षा राजनीतिक प्रभाव अधिक प्रभावशाली होता था। सिविल सेवा अधिकांशत: ब्रिटिश आफिसरों से भर जाता था।

भारत एक बहुत जनसंख्या वाला देश है, यहाँ विभिन्न प्रकार की जातियाँ तथा भाषाएँ बोलने वाले लोग हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यक लोग, सामाजिक तथा शैक्षिक आधार पर पिछड़ी हुई जातियां तथा उनके समुदाय हैं। यदि राजनीतिक महत्ता तथा प्रभाव लोक सेवा के चयन का आधार बन जाता है तो निश्चित ही यह भारतीयों के लिय अन्यायपूर्ण होगा। यह साथ साथ कार्यकुशलता, दक्षता तथा शासन की अखंडता पर भी प्रभाव देगा। अत: इन्हीं दोषों से मुक्त करने के लिए सरकार ने केन्द्र तथा राज्य स्तर पर लोक सेवा आयोग का गठन किया।

एक प्रजातांत्रिक देश में सिविल सेवा को राजनीतिक तथा व्यक्तिगत प्रभाव से हमेशा दूर रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे स्थायित्व तथा सुरक्षात्मक स्वरूप देना भी आवश्यक है। जिन देशों ने इन सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं किया है, वहां पर एक कार्य कुशल तथा असंगठित सिविल सेवा का उदाहरण हमें मिलता है तथा इसके साथ साथ कदाचार अधिक देखने को मिलता है। इस प्रकार लोकसेवा आयोग के मुख्यत: दो प्रकार के कार्य हैं। इसे सबसे अधिक कार्यकुशल व्यक्तियों का चयन करना तथा साथ ही साथ मूर्ख व्यक्तियों को भी प्रशासन से दूर रखना।

19.2 आवश्यकता

भारत में संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगों को लोकतन्त्र का संरक्षक माना जाता है। ये आयोग लोक सेवाओं में योग्यता के एकमात्र मापदण्ड स्वीकार कर लोकतन्त्र के अर्थ एवं उसके व्यवहार को घोषित करते हैं। प्रो0 एम0 बी0 पायली के अनुसार, "लोक सेवा आयोग का कार्य दो प्रकार से होता है- प्रथम तो धूर्त जनों को सेवा से बाहर रखना और दूसरा योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं में लाने का प्रयास करना।" संक्षेप में, लोक सेवा आयोग की आवश्यकता के प्रमुख कारण हैं- प्रथम, सेवा विषयों के संबंध में विचार रखने के कारण यह कार्यपालिका को राजनीति व प्रशासन तन्त्र के मध्य आवश्यक सन्तुलन स्थापित करने में सहायता देता है। द्वितीय, लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए योग्यतम प्रत्याशियों का चयन करना। तृतीय, लोक सेवाओं को भाई भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार से दूर करना। चतुर्थ, लोक सेवाओं के मामलों पर सरकार को तकनीकी परामर्श प्रदान करना।

19.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में सर्वप्रथम सन् 1919 के भारत शासन अधिनियम के अधीन सन् 1926 में लोक सेवा आयोग स्थापित हुआ। सन् 1924 के ली कमीशन की संस्तुतियों के आधार पर इस आयोग को कतिपय कृत्य सौंपे गये थे। बाद में सन् 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के उपबन्धों के अधीन संघीय लोक सेवा आयोग स्थापित होने पर इसके कृत्यों का विस्तार हुआ। 26 जनवरी, 1950 को जब स्वतन्त्र भारत का नया गणतन्त्रात्मक संविधान लागू हुआ तब

उसमें यह प्रावधान किया गया कि संघ सरकार के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा और संघ के घटक प्रत्येक राज्य के लिए भी एक एक लोक सेवा आयोग होगा।

19.2.2 संगठन एवं कार्य

लोक सेवा आयोग का गठन धारा 315(1) के अनुसार किया गया है। यह एक स्वतन्त्र आयोग है। इसके अध्यक्ष तथा अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है। भारतीय संविधान के अनुसार लगभग आधे सदस्यों को कम से कम 14 वर्षो के लिए या तो भारतीय सरकारी सेवा या राज्य सरकारी सेवा का पदभार अवश्य ग्रहण किये होना चाहिए।

भारतीय संविधान की धारा 316(2) के अनुसार एक लोक सेवा आयोग के सदस्य को 6 वर्षो के लिए नियुक्त किया जाता है। इसकी गिनती उस दिन से होती है, जिस दिन वह पदभार ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त एक शर्त यह भी है कि लोक सेवा आयोग के संदर्भ में उसकी नियुक्ति तभी तक हो सकती है जब तक वह 65 वर्ष का न हो जाये अर्थात् या तो उसे 6 वर्षो के लिए नियुक्त किया जा सकता है, अथवा जब तक वह 65 वर्षों का न हो जाये तब तक पदभार ग्रहण कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति जो लोक सेवा आयोग का पदभार प्राप्त करता है और उसका त्याग करना चाहता है, वह अपने हाथ से एक पत्र राष्ट्रपति के नाम लिखकर पद त्याग कर सकता है। धारा 317 के अनुच्छेद (1) तथा (3) के आधार पर प्रस्ताव पारित कर उसे पदच्युत भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त धारा 316(3) के अनुसार यह भी प्रस्ताव पेश किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति की अवधि समाप्त हो जाती है या वह अवकाश प्राप्त करता है तभी उसे इस कार्यालय में पुन: नियुक्त किया जा सकता है।

लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को राष्ट्रपति की आज्ञा से बुरे व्यवहार करने के आधार पर पदच्युत किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए सर्वोच्च न्यायालय की धारा 145 के आधार पर जांच करनी पड़ती है और यदि अध्यक्ष दोषी पाया जाता है तभी उसे पदच्युत किया जा सकता है। धारा 317(2) के अनुसार राष्ट्रपति को लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को पदच्युत करने का अधिकार है। परन्तु राष्ट्रपति को यह आज्ञा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गये निर्णय की एक प्रति ग्रहण कर ही देनी चाहिए। अध्यक्ष के साथ साथ अन्य व्यक्तियों को भी पदच्युत करने का अधिकार है।

धारा 317(3) में अध्यक्ष तथा अन्य व्यक्तियों को हटाने के लिए कुछ आवश्यक शर्तो को प्रतिपादित किया गया है। यह शर्त केस के आधार पर निश्चित की जाती है :

(1) यदि अध्यक्ष को एक दोषी घोषित किया गया हो।

(2) यदि अध्यक्ष या अन्य व्यक्तियों को लोक सेवा आयोग के अतिरिक्त किसी अन्य सरकारी दफ्तर में लाभ के पद मर नियुक्त पाया जाता है।

(3) यदि राष्ट्रपति की नजर में वह व्यक्ति पागल या अस्वस्थ दिमाग वाला व्यक्ति प्रतीत हो।

धारा 317 (4) में ही इस बात को स्पष्ट किया गया कि यदि अध्यक्ष अथवा लोक सेवा आयोग का कोई अन्‍ पदाधिकारी लाभ के पद पर अन्यत्र कार्यरत हो तो राष्ट्रपति के द्वारा बुरे व्यवहार की संज्ञा दी जा सकती है तथा उर पदच्युत किया जा सकता है।

धारा 318 में राष्ट्रपति को सदस्यों की संख्या तथा उनकी सेवा की शर्तो का निर्धारण करने का भी अधिका दिया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अध्यक्ष तथा अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त सेवा आयोग के कर्मचारियों क संख्या तथा उनकी सेवाओ की शर्तो का भी निर्धारण करने का अधिकार है। परन्तु किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति व पश्चात राष्ट्रपति के द्वारा निर्धारित शर्तो का भी निर्धारण करने का अधिकार है। परन्तु किसी भी व्यक्ति की नियुवि के पश्चात राष्ट्रपति के द्वारा निर्धारित शर्तो को बार बार परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। धारा 319 के द्वारा अध्य

तथा अन्य व्यक्तियों की सेवाओं के लिए कुछ सीमाएं भी निर्धारित की गई हैं। अध्यक्ष एक बार लोक सेवा आयोग या राज्य सेवा आयोग के यदि पदभार प्राप्त कर अवकाश प्राप्त करता है तथा उसकी नियुक्ति पुनः या तो संघ सेवा आयोग कें अध्यक्ष या एक साधारण व्यक्ति की तरह हो सकती है या फिर राज्य सेवा आयोग के अध्यक्ष या एक साधारण व्यक्ति के रूप में।

धारा 320 के आधार पर लोक सेवा आयोग के कार्य अधिकार का विवरण दिया गया है। धारा 320 (1) के अनुसार लोक सेवा आयोग को परीक्षा कराने का अधिकार है ताकि वे केन्द्रीय सरकारी सेवा पर कार्यरत हो सकें। अनुच्छेद (2) में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि दो से अधिक राज्य मिलकर यह प्रार्थना करते हैं कि किसी भी पद के लिए यदि उम्मीदवारों का चयन करना है तो यह कार्य भी संघ लोक सेवा आयोग कर सकता है। धारा 320(3) के आधार पर निम्नलिखित परिस्थितियों में संघ लोक सेवा आयोग से परामर्श लिया जा सकता है।

1. सिविल सेवा तथा सिविल सेवा के चयन की पद्धति में सम्पूर्ण विषयों पर संघ सेवा आयोग का परामर्श आवश्यक हैं।
2. सिविल सेवा तथा पदों के लिए नियुक्ति के सभी सिद्धान्तों पर तथा पदोन्नति एवं एक सेवा से दूसरी सेवा में पदाधिकारियों का तबादला इसके अतिरिक्त उम्मीदवारों की योग्यता के अनुसार पदोन्नति, नियुक्ति तथा तबादले के सिद्धान्तों का प्रतिपादन का भी अधिकार लोक सेवा आयोग को है।
3. भारतीय सरकार की सेवा में कार्यरत किसी व्यक्ति को प्रभावित करने वाली बातों पर राज्य सरकार की सेवा में कार्यरत व्यक्ति, परन्तु वह सिविल स्तर का हो। इसके साथ या इसी प्रकार की अन्य सेवाओं में कार्यरत हो।
4. सिविल पदाधिकारियों के पेन्शन की मात्रा पर विचार करना।
5. जो पदाधिकारी भारतीय सेवा में कार्यरत है अथवा किए हैं भुगतान के लिए संचित निधि से राशि निश्चित करना।

इसके अतिरिक्त लोक सेवा आयोग को संविधान की धारा 320 (5) के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा मांगे गए परामर्श पर परामर्शदाता के रूप में कार्य करने का अधिकार है। ये अधिकार निम्नलिखित हैं :

1. संविधान के द्वारा दिए गए राष्ट्रपति को वैसे अधिकार जिनके अन्तर्गत वह मुद्दों पर नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त करता है।
2. किसी विशेष के द्वारा किसी भी प्रकार के बोर्ड, ट्राइब्युनल, कमीशन या समिति का गठन करना तथा उसके अध्यक्ष की नियुक्ति करना।
3. लोक सभा तथा राज्यसभा के सचिवालय पदों पर पदाधिकारियों को पदासीन करना।
4. व्यक्तिगत कर्मचारियों की नियुक्ति।
5. प्राचीन केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के लिए न्यायाधीश तथा मुन्सिफ के पद पर नियुक्ति।
6. उत्तरी पूर्वी सीमांत प्रदेशों के प्रशासन के लिए पदों की व्यवस्था करना इत्यादि।

लोक सेवा आयोग, यद्यपि एक है फिर भी भारतीय संविधान के तहत इसे स्वतन्त्र बनाए रखने की कोशिश की गई है। धारा 320 के आधार पर लोकसभा ने विभिन्न अधिकार दिए हैं। डॉ0 मुतालिब के अनुसार आयोग के कार्यो को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) कार्यकारी

(ख) क्रियात्मक

(ग) अर्द्धन्यायिक कार्य।

परीक्षाओं के माध्यम से लोक महत्त्व के प्रत्याशियों का चयन करना आयोग का कार्यकारी कर्त्तव्य है। भर्ती की पद्धति तथा नियुक्ति, पदोन्नति एवं विभिन्न सेवाओं में स्थानांतरण आदि आयोग के नियामक प्रकृति के कार्य हैं तथा

प्रशासन के मामले में सलाह देना इसके न्यायिक कार्य हैं।

19.2.3 स्वतन्त्रता

लोक सेवा आयोग के सदस्यों की भूमिका

हमारे संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतन्त्रता बनाये रखने हेतु निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं:

1. आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों के संविधान में निर्धारित प्रक्रियानुसार ही पदच्युत किया जा सकता है।
2. आयोग के किसी भी सदस्य के पद से संबंधित शर्तों को उसके कार्यकाल में हानि के रूप में नहीं बदला जा सकता।
3. लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन, भत्ते, प्रशासकीय व्यय भारत सरकार की संचित निधि पर भारित है। अत: संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन भत्तों के संबंध में संसद तथा राज्य विधानमण्डलों में मतदान नहीं किया जा सकता है।
4. संघ और राज्यों के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों को कुछ अपवादों को छोड़कर पुन: उसी पद या सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की अनुपयुक्तता की प्रकृति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई नियुक्ति नहीं पर सकता। ऐसा प्रतिबन्ध तो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर भी नहीं है।

उपर्युक्त संवैधानिक उपबन्धों द्वारा लोक सेवा आयोग के सदस्यों की निष्पक्षता बनाये रखने का भरसक प्रयास किया गया है।

19.2.4 सलाहकारी

संविधान में लोक सेवा आयोगों का कार्य सिर्फ सलाह देना रखा गया है। आयोग द्वारा प्रत्याशियों का शासकीय पदों के लिए चयन भी सलाह मात्र है। सरकार आयोग द्वारा चुने हुए प्रत्याशियों को नियुक्ति देने के लिए अथवा आयोग द्वारा निर्धारित योग्यता क्रम में नियुक्ति देने के लिए किसी प्रकार बाध्य नहीं है। हां, साधारणतया सरकार आयोग की सलाह स्वीकार कर ही लेती है। इसी प्रकार अन्य सेवा संबंधी मामलों में, जिनमें पदोन्नति आदि के मामले भी सम्मिलित हैं, आयोग का कार्य सलाह देना भर है। सन् 1919 तथा 1935 के अधिनियम के अधीन स्थापित आयोग भी सलाहकारी थे, सरकार को बाध्य करने वाले नहीं। 1935 में भारत सचिव सेमुअल होर ने ब्रिटिश लोक सदन में लोक सेवा आयोग को सलाहकार स्थिति प्रदान करने की वकालत करते हुए कहा था, यह संयुक्त प्रवर समिति का निश्चित विचार था और मेरे यहां के भारतीय सलाहकारों का भी निश्चित विचार है कि लोक सेवा आयोग को सलाहकार रखना कहीं अच्छा है। अनुभव दर्शाता है कि सलाहकार होने पर बाध्यकारी (मेण्डेटरी) होने की अपेक्षा वे अधिक प्रभावशाली होते हैं। खतरा यह है कि यदि आप उन्हें मेण्डेटरी शक्ति दे दें तो आप प्रत्येक राज्य में और केन्द्र में दो दो सरकारें बना देंगे– अनेक दृष्टिकोण से यही अच्छा है कि वे सलाहकार ही हों।

ऐसा कहा जाता है कि आयोग की सलाह को बिना सार्वजनिक विवाद का विषय बनाते हुए सरकार अन्य तरीकों से भी नियुक्तियाँ कर देती हैं। यदि कोई मन्त्रालय किसी उम्मीदवार का चयन पसन्द नहीं करता तो वह प्रस्तावित पद वापस मांग सकता है और फिर उस पर एक वर्ष के लिए अपनी पसन्द के व्यक्ति की अस्थायी नियुक्ति कर सकता है और वह अस्थायी व्यक्ति भी इसमें अपने अर्जित लाभ के आधार पर भाग ले सकता है, जिससे निश्चित ही वह लाभान्वित होगा। कभी कभी कोई मन्त्रालय अल्पकाल के लिए तदर्थ नियुक्तियां कर लेता है और प्रत्याशी की कार्यावधि निरन्तर बढ़ाता रहता है। मन्त्रालय आयोग को यह आश्वासन दे सकता है कि प्रस्तावित पद कुछ ही समय बाद समाप्त हो जायेगा और इस प्रकार आयोग को मन्त्रालय की बात माननी पड़ती है। संघ लोक सेवा आयोग

ने इस प्रकार की हरकतों का बार बार विरोध किया है।

19.2.5 दुर्बल पक्ष

1. आयोगों के सदस्यों की नियुक्ति करते समय पर्याप्त ध्यान नहीं रखा जाता है। भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर के अनुसार राज्यों में तो आयोगों के सदस्यों का स्तर उच्च श्रेणी का नहीं रहा है।
2. प्राय: यह देखा गया है कि राज्यों में अनेक लोक सेवा आयोग समय पर अपना वार्षिक प्रतिवेदन भी तैयार नहीं करते। किसी राज्य के लोक सेवा आयोग ने तो सन् 1964 के बाद अपना कोई भी प्रतिवेदन तैयार नहीं किया।
3. राज्यों में सरकारें भी आयोग की सिफारिशों पर ध्यान नहीं देतीं।
4. संघ लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र से विभिन्न तरीकों द्वारा अनेकों पद नियुक्ति का अधिकार छीन लिया जाता है।
5. ऐसा माना जाता है कि संसद और विधानमण्डलों में आयोग के प्रतिवेदन पर समुचित वाद विवाद और ध्यान नहीं होता है। श्रीयुत सरकार के अनुसार व्यवहार में संसदीय नियन्त्रण प्रभावकारी नहीं रहा है।
6. किसी राज्य आयोग के एक भूतपूर्व अध्यक्ष ने स्पष्ट लिखा है कि राज्य सरकारें आयोग के साथ कैसा व्यवहार करती है। आयोग की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर कर दी जाती है कि वह साक्षात्कार लेने हेतु स्वतन्त्र विशेषज्ञों को नहीं बुला सकता, आयोग में रिक्त पदों को समय पर नहीं भरा जाता, छ:-छ: माह तक आयोग को बिना सचिव के काम चलाना पड़ा, निवृत्त होने के बाद आयोग के अध्यक्ष के निवास स्थान की पुलिस द्वारा जांच करायी गयी और उसे अपनी सुरक्षा के लिए उच्च न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। बस, कारण यही था कि आयोग ने राजनीतिज्ञों की आज्ञा का पालन नहीं किया।
7. वस्तुत: व्यवहार में राज्य लोक सेवा आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों के वेतन तथा भत्ते मुख्यमन्त्रियों की इच्छा पर ही निर्भर करते हैं।
8. राज्यों के लोक सेवा आयोग के बारे में बराबर ऐसी शिकायतें आयी हैं कि उनका आचरण निष्पक्षता से परे रहा है। स्वयं विधि आयोग ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हमें यह देखकर खेद हो रहा है कि कुछ राज्यों में लोक सेवा आयोग के अधिकारी इस प्रकार के नहीं हैं जो अपनी कुशलता और तटस्थता के लिहाज से विश्वसनीसय दिखायी दें।
9. आयोग द्वारा आयोजित मौखिक परीक्षाओं तथा व्यक्तित्व परीक्षाओं में शहरी तथा अंग्रेजी स्कूलों से आये प्रत्याशियों को देहाती प्रत्याशियों की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता है।
10. आयोग द्वारा अपनायी गयी चयन प्रक्रिया के कारण केवल उच्च परिवारों के धनी प्रत्याशियों को ही उच्च सेवाओं में प्रवेश मिल पाता है। डॉ0 भाम्भरी नें लोक सेवा आयोग को बन्द नौकरशाही निगम कहा है जो अपने भर्ती के तरीकों द्वारा स्थापित नौकरशाही व्यवस्था को निरन्तर बनाये रखता है।
11. भारत में लोक सेवा आयोग का दृष्टिकोण एवं कार्य प्रक्रिया अभी तक मूल रूप से नकारात्मक है। यह धूर्तो को दूर रखने का ही प्रयत्न करता है।
12. आयोग का कार्यभार अधिक है। वह सदैव अपने नियमित कार्यों में ही व्यस्त रहने के कारण भर्ती नीतियों में अधिक नये प्रयोग नहीं कर पाता।

19.2.6 बदलती भूमिका

राज्यों के लोक सेवा आयोगों के सदस्यों और अध्यक्षों के सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा

गांधी ने इस बात पर जोर दिया कि वहां इस प्रकार की रोजगार नीति अपनायी जानी चाहिए कि लोक सेवाओं में अधिक से अधिक ग्रामोन्मुख प्रत्याशी शामिल हो जायें ताकि जो लोग गांवों में काम करना चाहते हैं, उन्हें अधिक अवसर मिले। हमारे पास ऐसे प्रशासक हों जो लोगों की अभिलाषाओं के प्रति उदासीन न हों। ये अभिलाषाएं चाहे समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और प्रजातन्त्र संबंधी हों।

सर्वत्र यह महसूस किया जा रहा है कि अब देश की परिस्थितियां और लोगों की महत्त्वाकांक्षाएं इतनी बदल गयी हैं कि संघ लोक सेवा आयोग के साथ साथ राज्य के लोक सेवा आयोगों को भी अपनी कार्य प्रणाली और संगठन पर पुनर्विचार कराना होगा।

19.2.7 सुधार

लोक सेवा आयोगों के परिप्रेक्ष्य में कई सुधार अपेक्षित हैं। आयोगों का दर्जा बढ़ाना आवश्यक है। उन्हें उच्च न्यायालय के समतुल्य दर्जा मिलना चाहिए। आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों के वेतन भत्तों का यथाशीघ्र पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए। आजकल आयोग के प्रश्न पत्रों की गोपनीयता भंग होने लगी है। अतः आयोग को प्रतियोगी परीक्षाओं के प्रश्न पत्रों की गोपनीयता बनाये रखने के लिए गंभीर रहना चाहिए। अन्यथा आयोग की गरिमा को जबर्दस्त ठेस पहुंचेगी। राज्यों में लोक सेवा आयोगों की गिरती हुई प्रतिष्ठा को बचाना बहुत आवश्यक है। आयोगों में ऐसे व्यक्ति नियुक्त किये जाने चाहिए जिनकी साख पर कोई धब्बा न हो। आजकल आयोग का काम सरकारी सेवा तक ही सीमित है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में नियुक्तियों का काम आयोग के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया है, जो ठीक नहीं। प्राक्कलन समिति ने सुझाव दिया है कि सार्वजनिक उद्यमों में भर्ती का कार्य पुनः आयोग को ही सौंप दिया जाना चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने कहा है कि संविधान के अनुच्छेद 321 के अधीन संसदीय विधि द्वारा सरकारी धनराशि से चलाये जाने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के अलाभकारी (नान-प्रॉफिट) संगठन भी उनके अधिकार क्षेत्र में लाये जा सकें। अध्ययन दल ने यह भी सुझाव दिया है कि संघ लोक सेवा आयोगों को भर्ती, साक्षात्कार, कार्य के मूल्यांकनों आदि के लिए आधुनिक तरीकों का विकास करना चाहिए।

19.3 सारांश

भारतवर्ष में कार्मिक वर्ग के प्रशासन के क्षेत्र में संघ लोक सेवा आयोग का महत्वपूर्ण योगदान है। संसदीय लोक तन्त्र में संघीय लोक सेवा आयोग राजनीति से लोक सेवा को अलग रखने का कार्य करता है। सर्वप्रथम 1919 के अधिनियम में लोक सेवा आयोग स्थापित हुआ था। धारा 315 से 320 तक संविधान में इसकी गठन एवं कार्यों की चर्चा की गयी है। इसके सदस्यों की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए संविधान में अनेक प्रावधान रखे गये हैं। संविधान में लोक सेवा आयोग का कार्य सलाहकारी अधिक है। इस आयोग की कुछ खामियां भी हैं जिसे दूर करने का प्रयास भी किया जाता है। इसमें कुछ सुधार भी अपेक्षित है। संसद और विधानमण्डलों में लोक सेवा आयोगों के कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा हुई और उसके चयन में निष्पक्षता होने की आमतौर पर सराहना की गयी है। भारत में लोक सेवा आयोग को लोकतंत्र का आधार माना जाता है।

19.4 कुंजी शब्द

1. सलाहकारी : सलाह देने का कार्य
2. अलाभकारी : बिना फायदे का कार्य (आर्थिक)

19.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संघीय लोक सेवा आयोग की संगठन शक्तियों एवं भूमिका पर प्रकाश डालें।
   उत्तर- (19.2-19.2.3)
2. संघीय लोक सेवा आयोग की बदलती भूमिका का उल्लेख करें।
   उत्तर- (19.0-19.2.6)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

3. सेवा आयोग का संगठन
   उत्तर- (19.2.2)
4. आयोग के दुर्बल पक्ष
   उत्तर- (19.2.5)

19.6 ग्रंथ सूची

1. संविधान एवं लोक सेवा आयोग की भूमिका : एस0 आर0 किदवई
2. भारतीय शासन एवं राजनीति : सुशीला कौशिक
3. भारतीय शासन एवं राजनीति : डॉ0 पुखराज जैन, डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया

❖❖❖

भारत में निर्वाचन आयोग

पाठ संरचना

20.0 भूमिका

20.1 उद्देश्य

20.2 संगठन

- 20.2.1 कार्य
- 20.2.2 आयोग की स्वतन्त्रता
- 20.2.3 आलोचना
- 20.2.4 टी० एन० शेषन की भूमिका
- 20.2.5 चुनाव अयोग के हेतु सुझाव
- 20.2.6 निष्कर्ष

20.3 सारांश

20.4 कुंजी शब्द

20.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

20.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

20.0 भूमिका

चुनाव व्यवस्था लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की चुनाव प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्त्वपूर्ण नहीं कि चुनाव होतें है, अपितु इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस भांति होते हैं, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं, और आम मतदाता की निर्वाचन व्यवस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता और ईमानदारी पर कितना विश्वास होता है

भारत एक लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली वाला देश है जहां केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आये दिन चुनाव

होते हैं। इन चुनावों के माध्यम से जनता अपने शासकों (जन-प्रतिनिधियों) का चयन करती है, जनता शासकों पर नियन्त्रण रखती है और सरकार को वैधता प्रदान करती है, नागरिक मताधिकार के माध्यम से ऐसी सरकार को बदल सकते हैं जो उनकी इच्छाओं का सम्मान नहीं करती है। वस्तुतः भारत जैसे देश में निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से लोकमत की अभिव्यक्ति है।

20.1 उद्देश्य

भारत के संविधान निर्माता चुनावों के महत्व से परिचित थे और इसलिए भारतीय संविधान में उन्होंने एक ऐसे संवैधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्य सभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन संपन्न कराना है। इस संवैधानिक आयोग को चुनाव आयोग के नाम से जाना जाता है। जहां विश्व के अधिकांश शासन विधानों में निर्वाचन को अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण विषय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है वहीं भारतीय संविधान निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है। निर्वाचन तन्त्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए संविधान निर्माता सभा में पं0 हृदयनाथ कुंजरू ने कहा था कि अगर निर्वाचन तन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नहीं है या गैर ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्‌भव काल में ही डगमगा जायेगा। स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक अध्याय अनुच्छेद 324 से 339 में निर्वाचन तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गई है।

20.2 संरचरना एवं संगठन

भारत में निर्वाचन आयोग : संरचना एवं संगठन

संवैधानिक प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे। निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा की शर्तें और पदावधियां ऐसी होंगी जिसे राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्ही रीतियों से हटाया जायेगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। नियुक्ति के पश्चात मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों में अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

व्यावहारिक स्थिति : सन् 1951 में पहली बार संविधानके अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन कार्य करता रहा। 1952 में आम चुनावों के संचालन हेतु दो प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति की गई। प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों की व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम चुनाव के समय इसे निरस्त कर दिया। सन् 1956 में प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के स्थान पर उपनिर्वाचन• आयुक्त के पद सूचित किये गये। विभिन्न चुनावों में उपनिर्वाचन• आयुक्त के पद का उपयोग किया जाता रहा है। वैसे यह सांविधिक पद नहीं है, इसका उल्लेख

जन प्रतिनिधित्त्व अधिनियम में किया गया है। 1957, 1962 के निर्वाचनों का संचालन करने हेतु दो उप-निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की गई। 1969 के मध्यावधि चुनाव आयुक्त को सहायता देने के लिए केवल एक ही उप निर्वाचन आयुक्त था।

इस प्रकार मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए उपनिर्वाचन आयुक्त, सचिव, अपर सचिव, शोध-अधिकारी, आदि पद उपलब्ध कराये गये हैं।

सन 1966 में निर्वाचन सम्बन्धी विधि में परीवर्तन करके यह प्रावधान किया गया कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त में सन्निहित अधिकारों का प्रयोग उप निर्वाचन आयुक्त एवं आयेग के सचिव भी कर सकते हैं। इस प्रकार निर्वाचन आयुक्त की शक्तियों का हस्तान्तरण हो सकता है, किन्तु आज भी संविधान के अनुसार निर्वाचन सम्बन्धी समस्त शक्तियां एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त में ही समाविष्ट हैं।

16 अक्टुबर, 1989 को राष्ट्रपति आर0 बेंकटरमण ने निर्वाचन आयोग को व्यापक रूप देने के उद्देश्य से दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। ये अधिकारी श्री एस0 एस0 धनोवा और श्री वी0 एस0 सैगल थे। श्री धनोवा और सैगल की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए की गई थी । संविधान के अनुच्छेद 324 में यह प्रावधान है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए आयुक्तों की नियुक्ति की जा सकती है। श्री धनोवा और श्री सैगल क्रमश: अवकाश प्राप्त आई0 ए0 एस0 और आई0 पी0 एस0 अधिकारी थे।

2 जनवरी, 1990 को राष्ट्रपति ने चुनाव आयुक्तों के रूप में श्री धनोवा तथा श्री सैगल की नियुक्तियां रद्द कर दी जिसके साथ ही बहु सदस्यीय आयोग फिर एक सदस्यीय हो गया। दोनों चुनाव आयुक्तों की संसदीय चुनाव की पूर्व संध्या पर नियुक्ति की राष्ट्रीय मोर्चे के घटक तथा अन्य विपक्षी दलों ने आलोचना की थी। सत्ता संभालने के बाद प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने अपने पहले संवाददाता सम्मेलन में कहा था कि जिन परिस्थितियों में दो चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति हुई, सरकार उनकी समीक्षा करेगी।

बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग

यधपि निर्वाचन आयोग को ब्रहुसदस्यीय बनाने के पूर्व अनुभव नहीं रहे हैं, लेकिन एक बार फिर केन्द्र सरकार ने 1 अक्टुबर, 1993 को एक अधिसूचना जारी करके निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया । इसके अनुसार आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त के अतिरिक्त दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगे। बाद में जारी एक अन्य अधिसूचना के माध्यम से एम0 एस0 गिल और जी0 वी0 जी0 कृष्णमूर्ति की नियुक्ति चुनाव आयुक्त के रूप में कर दी गई। राष्ट्रपति ने केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सिफारिश पर चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाने की अधिसूचना जारी की। इस अधिसूचना के माध्यम से मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्त)अधिनियम 1991 में संशोधन किया गया। इस संशोधन के उपरान्त वेतन एवं अन्य सेवा शर्तो के अतिरिक्त अन्य चुनाव आयुक्त, मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समकक्ष हो गये। अध्यादेश में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों के बीच कार्य विभाजन को भी परिभाषित किया गया। केवल पद नाम को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य दो चुनाव आयुक्तों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह गया है, निर्णय अब एकमत से लिए जा सकते हैं या चुनाव आयोग से सम्बधित कार्य मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्त आपस में विभाजित कर सकते हैं। यदि मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य आयुकतों में किसी मामले पर मत भेद होता है तो बहुमत का निर्णय मान्य होगा। इसी अध्यादेश में अन्य चुनाव आयुक्तों का वेतन भी बढ़ाकर मुख्य चुनाव आयुक्त के बराबर 9000 रुपये और सेवा निवृत्ति की आयु 65 वर्ष कर दी गई।

मुख्य निर्वाचन अयुक्त श्री टी0 एन0 शेषन ने नये चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति तथा उन्हें मुख्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति तथा उन्हें मुख्य चुनाव आयुक्त के बराबर अधिकार देने से सम्बन्धित राष्ट्रपति के अध्यादेश की वैधता को चुनौती देते हुए 27 अक्टुबर 1993 को सर्वोच्च न्यायलय में एक याचिका दायर कर दी। उच्चतम न्यायालय

की संविधान पीठ ने 14 जुलाई, 1995 को दिये गये अपने एक फैसले में निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने और मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अन्य दो चुनाव आयुक्तों के समकक्ष मानने सम्बन्धी राष्ट्रपति की अधिसूचनाओं को वैध घोषित की इस अध्यक्षता में गठित पांच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने श्री शेषन की इस दलील को नामंजूर कर दिया कि आयोग में वही सर्वोपरि है और नये दोनों आयुक्तों (डा0 एम0 एस0 गिल और जी0 वी0 जी0 कृष्णमूर्ति) का काम केवल उन्हें सलाह देना है। संविधान पीठ ने श्री शेषन की इस दलील को भी नामंजूर कर दिया कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 के तहत मुख्य चुनाव आयुक्त को अन्य दो आयुक्तों की अपेक्षा अधिक अधिकार दिये गए हैं। अपने फैसले के साथ ही न्यायालय ने यह आशा व्यक्त की कि आयोग के सदस्य अब एक दूसरे के प्रति सन्देह की भावना से ऊपर उठकर सद्भावनापूर्ण वातावरण में काम करेंगे।

20.2.1 चुनाव आयोग के कार्य

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप में उसके निम्नलिखित कार्यो का उल्लेख किया जा सकता है।

1. चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांक : चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं पायी गयी, अतः संसद ने परिसीमन आयोग अधिनियम,1952 पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दो वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है। और उसके अतिरिक्त इनमें दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 लेकर 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता के द्वारा व्यक्तिगत अथवा संगठित रूप से आयोग के सम्मुख सुझाव या आपत्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिन पर खुली बैठकों में विचार आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त ही आयोग सीमांकन आदेश की घोषणा करता है जो अन्तिम होता है तथा जिसके विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। परिसीमन आयोग की यह समस्त व्यवस्था गैरीमेण्डरिंग जैसी बुराइयों को सीमित करने के लिए की गयी है।

2. मतदाता सूचियां तैयार करना : चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होते हैं। मतदाता सूची तैयार करने का अर्थ इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

3. विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना : चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग के द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने के आधार में समय समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं और किये जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार किसी राजनीतिक दल को राज्य स्तरीय दल के रूप में वर्तमान नियम के अनुसार किसी राजनीतिक दल को राज्य स्तरीय दल के रूप में तभी मान्यता मिलती है, जब उसे संसदीय या विधानसभा चुनाव में उस राज्य से कुल वैध मतों का न्यूनतम 4 प्रतिशत मत मिले अथवा लोकसभा के लिए उस राज्य से निर्वाचित 25 या उससे कम सदस्यों के अनुपात में कम से कम उसका एक निर्वाचित सदस्य हो। इसी प्रकार राज्य विधान सभा में तीस या उससे कम विधायकों के अनुपात में उसका कम से कम एक विधायक हो। चार या

उससे अधिक राज्यों में मान्यता मिल जाने पर उस दल को राष्ट्रीय दल की मान्यता दी जाती है। अपने इसी अधिकार के तहत निर्वाचन आयोग ने 21 फरवरी,1992 को अपने निर्णय में तीन राष्ट्रीय दलों कांग्रेस एस,जनता दल समाजवादी और लोकदल की मान्यता समाप्त कर दी। साथ ही आयोग ने 10 राज्यस्तरीय दलों की मान्यता भी समाप्त कर दी।

4. राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करना : आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करता है और भारत की पृष्ठभूमि में आयोग का यह कार्य निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। यदि चुनाव चिन्ह के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निबटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

5. अर्द्ध न्यायिक कार्य : संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्धन्यायिक कार्य भी सौंपे गये हैं, जिसमें दो उल्लेखनीय हैं। अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध में परामर्श कर सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है, लेकिन संविधान अथवा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नहीं की गयी है और इसलिए इस कार्य को करने में आयोग ने कठिनाइयां अनुभव की हैं।

6. अन्य कार्य : आयोग को उपयुक्त के अतिरिक्त कुछ अन्यकार्य सौंपे गये हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता तैयार करना

(2) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएं दिलवाना

(3) उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले कुछ व्यय की राशि निश्चित करना

(4) मतदाताओं को राजनीतिक को, राजनीतिक प्रशिक्षण देना

(5) चुनाव याचिकाओं, आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

इन सब के अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय समय पर सरकार को अपने कार्यो के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रकिया में सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा जारी की गयी अधिसूचना से होता है। यह अधिसूचना जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की 14वीं धारा के अन्तर्गत जारी की जाती है तथा उसे वर्तमान लोकसभा की अवधि की समाप्ति या उपरान्त चुनाव आयोग मतदान की स्थिति में जारी किया जाता है। इसके उपरान्त चुनाव आयोग मतदान की तिथियों की घोषणा करता है, जिसे निर्वाचन प्रकिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोषणा में नामजदगी, पत्रों की जांच की तिथि, चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है।

20.2.2 आयोग की स्वतन्त्रता

क्या निर्वाचन आयोग एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र संस्था है?

निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता के लिए संवैधानिक प्रावधान

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र संवैधानिक निकाय है और संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि यह उच्चतम और उच्च न्यायालयों की भांति कार्यपलिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों को सम्पादित कर सके। इसकी स्वतन्त्रता को बनाये रखनेकी दृष्टि से प्रावधान बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

1. निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है अर्थात इसका निर्माण संविधान ने किया है, न कि कार्यपालिका या संसद ने।
2. मुंख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं।
3. मुख्य चुनाव आयुक्त को महाभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।

4. मुख्य चुनाव आयुक्त का दर्जा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर है।

5. नियुक्ति के पश्चात मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा शर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता है।

6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों का वेतन भारत की संचिव निधि में से दिया जाता है।

संक्षेप में, संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिसे वे अपने कार्यों को निडरता, निष्पक्षता तथा बिना किसी हस्तक्षेप के संपादित कर सकें।

20.2.3 निर्वाचन आयोग की आलोचना

भारत में समय समय पर निर्वाचन आयोग पर शासन दल के साथ पक्षपात करने के आरोप लगाये जाते रहे हैं। चतुर्थ आम चुनाव तथा विशेषतया लोकसभा के मध्यावधि चुनाव (1971) के बाद इस प्रकार के आरोपों में बहुत वृद्धि हुई है। नवम लोकसभा चुनाव (नवम्बर 1989) के दौरान भी आयोग पर कई आरोप लगाये गये। आयोग की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती हैं :

1. प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर नियुक्ति : आलोचकों के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर आमतौर से भारतीय प्रशानिक सेवा (आई0 ए0 एस0) के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है जिन्हें शासक दल निष्ठावान मानता है। सत्तारूढ़ दल द्वारा अपने चहेते व्यक्तियों को मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा निर्वाचन आयुक्त के पद पर पुरस्कृत किया जाता है। वे अधिकारी जिन्होंने सत्तारूढ़ दल के मातहत के रूप में काम किया है, चुनाव आयुक्त के रूप में निष्पक्ष भूमिका अदा कैसे कर सकते हैं?

2. निर्वाचन आयोग में आयुक्त का एकल पद : भारत में निर्वाचन आयोग में लम्बे समय तक आयुक्त का एकल पद (एक सदस्यीय) रहा है। निर्वाचन आयोग के कार्य बहुत विस्तृत और उसके उत्तरदायित्व बहुत भारी है। अत: अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति द्वारा इतने लम्बे समय तक इन कार्यो को किये जाने पर पक्षपात और शक्ति के दुरुपयोग की आशंका रहती है।

3. निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल एवं सरकार के इशारे पर काम करता है : सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जाता है कि भारत में निर्वाचन का समय व तिथियां निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित की जाती हैं, लेकिन यथार्थ में वह सत्तारूढ़ दल की इच्छा एवं सुविधा को ध्यान में रखकर काम करता है। राजीव गांधी की हत्या के बाद यह प्रश्न विवादास्पद बन गया था कि चुनाव की नई तारिखों का फैसला किसने किया। मुख्य चुनाव आयुक्त टी0 एन0 शेषन ने फ़ोकस कार्यक्रम में स्पष्ट स्वीकार किया कि तारीखों का फैसला सरकारी नजरिये को ध्यान में रखकर किया गया। इससे यह धारणा बनी कि चुनाव आयोग ने अपनी जिम्मेदारी से बचने की कोशिश की।

4. निर्वाचन सम्पन्न कराने के लिए राज्य सरकारों के कर्मचारियों पर निर्भरता : निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यो के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नहीं है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नहीं होते और कई बार निष्पक्ष आचरण नहीं करते। नवम लोकसभा चुनाव के समय प्रधानमंत्री के निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में जिस पैमाने पर फर्जी मतदान व बूथ कब्जा करने की घटनाएं हुई उससे स्थानीय कलक्टर ''रिटर्निंग ऑफिसर'' और पुलिस सुपरिंटेन्डेण्ट की उदासीनता को देखते हुए चुनाव प्रक्रिया सम्पन्न होने से पूर्व ही उनका स्थानान्तरण कर्मचारीतन्त्र की पक्षपातपूर्ण भूमिका का पर्दाफाश कर देता है।

5. चुनाव धांधलियों को रोक पाने में असमर्थ : वर्त्तमान में चुनाव आयोग चुनाव धांधलियों को रोक पाने में अपने को असहाय पाता है । चुनावों में बाहुबल और हिंसा, मतदान स्थलों पर कब्जा, फर्जी मतदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, किन्तु चुनाव आयोग मूक दर्शक बना रहता है।

6. कागजी अधिकार : चुनावी भ्रष्टाचार पर काबू पाने के चुनाव आयोग के अधिकांश अधिकार कागजों तक ही सीमित है। अगर चुनावों की व्यवस्था कारगर और भरोसेमन्द तरीके से करनी है तो आयोग के लिए कारगार अधिकारों और पर्याप्त संसाधनों की तत्काल जरूरत है। खासकर संसद में कानून बनाकर आयोग को नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक सरीखी हैसियत दिये जाने की जरूरत है।

20.2.4 टी0 एन0 शेषन के कार्यकाल में निर्वाचन आयोग विवाद के घेरे में फंस गया। सर्वप्रथम, शेषन की नियुक्ति ही विवादास्पद ढंग से हुई। शेषन का चयन राजीव गांधी व चन्द्रशेखर के उस आन्तरिक समझौते का परिणाम था जिसके कारण चन्द्रशेखर का समाजवादी जनता दल शासनारूढ़ हुआ, अन्यथा श्रीमती रमा देवी मुख्य निर्वाचन आयुक्त होती। शेषन पर खुल्लम खुल्ला यह आरोप लगा कि वे आयोग की कार्यवाही इस प्रकार चला रहे हैं जिससे कांग्रेस को राजनीतिक फायदा हो।

हो सकता है कि इस आरोप में कोई अतिवाद हो, लेकिन यह सच है कि आयोग ने कुछ ऐंसे निर्णय लिये, जो यह संकेत देते हैं कि आयोग के निर्णयों के पीछे कुछ अन्तर्निहित राजनीति है। कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

1. जब उसने भारतीय जनता पार्टी के पंजीकरण को रद्द करने वाली तथा कमल चुनाव चिन्ह को प्रतिबन्धित करने वाली अर्जुन सिंह की याचिका को स्वीकार कर लिया, लेकिन जिन आधारों पर अर्जुन सिंह की याचिका की विषयवस्तु प्रतिपादित थी, उन्हीं आधारों पर जब धरतीलाल गोयल ने कांग्रेस के खिलाफ याचिका दायर की तो उसे स्वीकार नहीं किया गया।

2. सबसे ज्यादा हास्यास्पद स्थिति निर्वाचन आयोग ने तब कर ली, जब उसने अपने ही द्वारा कुछ किये गये चुनावों पर पुनर्विचार के लिए सुनवाई का नाटक किया। पूर्णिया, पटना, बुलन्दशहर, मेरठ और इटावा लोकसभा क्षेत्रों व 15 विधानसभा क्षेत्रों के लिए आयोग ने इस सुनवाई का आयोजन किया। तथ्यों को ठीक से जानने के बाद यह साफ तौर पर लगता है कि इन चुनावों को रद्द करने का फैसला आयोग ने जल्दबाजी में किया था। तत्काल निर्णय तो अवश्य जरूरी होता है, लेकिन निर्णय के पूर्व आवश्यक प्रक्रियाओं का पालन, बहुत महत्वपूर्ण होता है। इन रद्द किये गये चुनावों में आयोग ने, अपने स्थनीय निर्वाचन अधिकारी व पर्यवेक्षकों की सम्मति लिये बिना, निर्णय करने की जल्दबाजी की, लेकिन पुनर्विचार के लिए सुनवाई का निर्णय उससे भी ज्यादा घातक था। इसने आयोग के निर्णयों की दृढ़ता पर सवालिया निशान लगा दिया।

3. 22 जून, 1991 को पंजाब में लोकसभा व विधानसभा के चुनाव होने थे । चुनाव करवाने की सारी तैयारियां कर ली गई। 20 जून को चुनाव प्रचार समाप्त होने के बाद राज्यपाल जनरल ओ0 पी0 मलहोत्रा ने मतदाताओं से निर्भय होकर मतदान की अपील की थी। चुनाव अधिकारी अपने अपने मतदान केन्द्रों पर जा चुके थे कि अचानक इस पूरी प्रक्रिया पर वज्राघात करते हुए 21 जून को प्रातः मुख्य चुनाव आयुक्त शेषन ने 25 दिसम्बर तक के लिए मतदान स्थगन की घोषणा कर दी। कांग्रेस ने इन चुनावों का बहिष्कार किया था और अब केन्द्र में कांग्रेस की सरकार बनने जा रही थी। उसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त नहीं था। यदि 22 जून को पंजाब में चुनाव हो जाते तो उसे 22 मतों की कमी पड़ने लगती। शेषन कांग्रेस की अल्पमत की पूर्ति तो नहीं कर सके, लेकिन पंजाब में चुनाव टालकर इस अल्पमत की वृद्धि तो रोक ही सकते थे।

शेषन के कार्यकाल में निर्वाचन आयोग की इस आधार पर भी आलोचना की गई कि यह एक वाचाल आयोग है। आयोग सार्वजनिक बहसों में उलझता गया और हर दिन पत्रकार परिषद आयोजित करने लगा. आश्चर्य तो तब हुआ, जब चुनावों की पूर्व संध्या पर निर्वाचन आयुक्त शेषन कुछ प्रमुख पत्रकारों के साथ दूरदर्शन के पर्दे पर उपस्थित

हुए। जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे ने शेषन की राजनीतिक भूमिका की न केवल आलोचना की अपितु उनके खिलाफ महाभियोग प्रस्ताव भी लोकसभा में रखा।

14 जुलाई, 1995 के अपने फैसले में उच्चतम न्यायालय ने मुख्य निर्वाचित आयुक्त श्री टी0 एन0 शेषन को बुरी तरह फटकारा। न्यायालय के अनुसार श्री शेषन प्रायः समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और दूरदर्शन पर नजर आते हैं, यहां तक कि वाणिज्यिक विज्ञापनों में सभी न्यायालय ने अपने फैसले में श्री शेषन के सार्वजनिक भाषणों, टेलीविजन पर उनकी भेंटवार्ता तथा राजनीतिक पार्टी बना लेने सम्बन्धी घोषणा का उल्लेख कर उनके विरुद्ध प्रतिकूल टिप्पणियां कीं।

इन आलोचनाओं के बावजूद भारत में साफ सुथरे चुनाव कराने की दिशा में शेषन ने अमिट छोड़ी है। शेषन ने धनबल और बाहुबल के दुरुपयोग पर रोक लगाई। केन्द्रीय कल्याण मंत्री सीता राम केसरी ने अल्पसंख्यकों को आरक्षण देने के बारे में जो घोषणा की, उस पर शेषण ने प्रधानमंत्री को लिखा और कर्नाटक एवं आंध्र प्रदेश के लिए चीनी का मासिक कोटा बढ़ाए जाने पर खाध राज्यमंत्री कल्पनाथ राय की भी खिंचाई की। शेषन के अनुसार मतदाताओं को लुभाने के लिए जानबूझकर की गई ये घोषणाएं आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन हैं। चुनावी गतिविधियों पर नजर रखने के लिए व्यय पर्यवेक्षक और सामान्य पर्यवेक्षक नियुक्त किये गये। चुनाव में खड़े उम्मीदवारों के लिए अपने चुनाव खर्चे का पूरा और सही ब्योरा देना अनिवार्य कर दिया गया। इससे चुनावी फिजूलखर्ची पर नियन्त्रण संभव हो गया।

25.2.5 चुनाव आयोग के हेतु सुझाव

निर्वाचन आयोग के संगठन में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं :

1. चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग हो जिसमें 3 से 5 तक स्थायी सदस्य हों और चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो।
2. चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाय जिसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमंत्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।
3. राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार चुनाव आयोग हों।
4. आयोग की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए इसमें वर्तमान ग्ग सेवानिवृत्त प्रशासनिक अधिकारियों को नियुक्त न कर वर्त्तमान या सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए।
5. उप चुनाव के बारे में निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति निर्वाचन आयोग में निहित हो, न कि सत्तारूढ़ दल की सुविधा पर ।
6. निर्वाचन आयोग से पद निवृत्त होने वाले आयुक्तों को भविष्य में किसी भी लाभ के पद पर नियुक्त न किया जाये।

तारकुण्डे समिति ने निर्वाचन आयोग में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये थे :

(1) राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किये जायें

(2) केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों तथा उनकी नियुक्ति राट्रपति एक ऐसी समिति की सिफरिश से करे जिस में प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता हों।

भारतीय जनता पार्टी के नेता श्री लालकृष्ण आडवाणी ने निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिये तीन सुझाव दिये हैं :

(1) निर्वाचन आयोग बहुसदस्यीय होना चाहिए,

(2) सेवानिवृत्ति के बाद सचिवों को आयोग में नियुक्त न की जाये, तथा

(3) सेवा निवृत्ति के बाद निर्वाचन आयोग के सदस्य किसी भी पद पर नियुक्त न किये जायें।

निर्वाचन आयोग ने अपने वर्ष 1986-87 के वार्षिक प्रतिवेदन के कहा है कि संसदको मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति की प्रक्रिया निर्धारित करने हेतु एक विधि का निर्माण करना चाहिए ताकि इस आलोचना से बचा जा सके कि नियुक्त में केन्द्रीय सरकार की राजनीतिक दखलअन्दाजी रहती है। जहां तक बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग का सुझाव है, इस सम्बन्ध में इस प्रस्ताव की जांच की जानी चाहिए और विभिन्न राजनीतिक दलों के विचारों से भी लाभ लिया जाना चाहिए। प्रतिवेदन में कहा गया है कि भारत के तीन भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्तों ने इस आधार पर बहुसदस्यीय चुनाव आयोग का विरोध किया था। चुनाव सम्बन्धी मामलों में तत्काल निर्णय लेने होते हैं और व्यवहार में आयोग ने हमेशा विभिन्न अभिकंरणों के अधिकारियों से परामर्श करके ही काम किया है।

बहुसदस्यी चुनाव आयोग के सदस्यों में मतभेद हो जाना स्वाभाविक है और शीघ्र निर्णय लेने में कठिनाइयां आ सकती हैं। दिसम्बर 1997 में मुख्य चुनाव आयुक्त डा0 एम0 एस0 गिल और चुनाव आयुक्त जी0 वी0 जी0 कृष्णमूर्ति के बीच में खुले झगड़े से आयोग की प्रतिष्ठा पर आंच आई। कृष्णमूर्ति छुटटी पर चले गए और उन्होंने सार्वजनिक रूप से मुख्य चुनाव आयुक्त की निष्पक्षता को चुनौती दी और उन पर पक्षपात के आरोप लगाए।

20.2.6 निष्कर्ष

निष्कर्ष : अभी तक भारत में लोकसभा के 12 आम चुनाव सम्पन्न हुए हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्रों में परिसीमन से लेकर निर्वाचन अधिनिर्णय तक के कार्य को चुनाव आयोग ने सामान्यतया कार्यकुशलता, निष्पक्षता और ईमानदारी के साथ सम्पन्न किया है। आयोग ने एकसमय गढ़वाल में दुबारा मतदान के आदेश दिये और 1989 के लोकसभा चुनाव के दौरान 1235 केन्द्रों पर पुनर्मतदान सम्पन्न कराया । 10वीं लोकसभा के निर्वाचन के समय आयोग ने एक समय बिहार सरकार को भयभीत कर दिया। बिहार से ऐसी रिपोर्ट मिली थी कि चुनाव में व्यापक हिंसा और मतदान बूथों पर कब्जा होगा। बिहार सरकार ने एक लाख होमगाडों को इस आश्वासन के साथ चुनाव बूथों पर नियुक्त किया कि चुनावों के बाद उनकी नौकरी पक्की कर दी जायेगी। आयोग ने बिहार सरकार तथा अन्य राज्य सरकारों को निर्देश दिया था कि 25 मार्च, 1991 के बाद चुनावी प्रक्रिया से सम्बन्धित किसी भी अधिकारी का स्थानान्तरण न किया जाये। जिन राज्य सरकारों ने ऐसा किया उन्हें आयोग ने स्थानान्तरण रद्द करने के निर्देश दिये। बिहार के पटना लोकसभा क्षेत्र में मतदान के दौरान 16 फरवरी, 1998 को बड़े पैमाने पर हुई धांधली और हिंसा की शिकायतों की जांच के बाद चुनाव आयोग ने पूरे पटना क्षेत्र का चुनाव रद्द कर दिया। आयोग ने मतदान के दौरान धांधली रोकने में असफल रहने के लिए पटना के जिला मजिस्ट्रेट एवं निर्वाचन अधिकारी क्षेत्र के पुलिस उपमहानिरीक्षक, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, पटना नगर के प्रभारी पुलिस अधीक्षक को तत्काल प्रभाव से स्थानांतरित करने के भी निर्देश दिए। 1996 के लोकसभा चुनावों में भी पटना क्षेत्र में गड़बड़ी की शिकायतें हुई थीं, और चुनाव आयोग ने इस चुनाव को भी रद्द कर दिया था। यदि निर्वाचन आयोग निष्पक्ष न होता तो 1977 में श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनका दल पराजित न होता। केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे, भाजपा एवं संयुक्त मोर्चे की सरकार एवं समय समय पर विभिन्न राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों का सत्ता में आना निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता का प्रमाण है।

20.3 सारांश

चुनाव आयोग लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है :

भारत एक लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली वाला देश है। यहां भी चुनाव आयोग सरकार को वैधता प्रदान करता

है। संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गयी । अक्टुबर 1993 में एक अधिसूचना जारी कर चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया है। 1995 में शेषन द्वारा इसे चुनौती देने पर सर्वोच्च न्यायालय ने अधिचूचना को वैध घोषित किया। चुनाव आयोग के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :

(1) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन

(2) मतदाता सूचियां तैयार करना

(3) विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना

(4) अर्द्ध न्यायिक कार्य

(5) अन्य आर्य

निर्वाचन आयोग को निष्पक्ष और स्वतन्त्र संस्था बनाने का ही संवैधानिक प्रावधान था। पर निर्वाचन आयोग की बहुत आलोचनायें की गयीं। लम्बे समय तक एक सदस्यीय आयोग विवाद के घेरे में रहा । कहा जाता है कि निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल एवं सरकार के इशारे पर काम करता है, और इसे केवल कागजी अधिकार प्राप्त है। टी0 एन0 शेषन की चुनाव आयोग में बहुत विवादस्पद भूमिका रही। निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव भी दिए गए हैं। निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता को लेकर भी अनेक प्रश्न चिन्ह उठते हैं। किन्तु निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि यह आधुनिक लोकतन्त्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

20.4 कुंजी शब्द

1. वैधता
2. एक सदस्यीय
3. बहु सदस्यीय
4. अर्द्ध न्यायिक
5. कागजी अधिकार
6. निष्पक्षता

20.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. चुनाव आयोग के संगठन एवं कर्यो की विवेचना करें ।
   उत्तर- (20.0-20.2.1)
2. चुनाव आयोग की लोकतान्त्रिक भूमिका पर प्रकाश डालें।
   उत्तर (20.2-20.2.6)
3. चुनाव आयोग की आलोचनात्मक चर्चा कीजिए
   उत्तर- (20.0-20.2.5)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

4. चुनाव आयोग के सुझाव पर प्रकाश डालें।
   उत्तर- (20.2.5)

5. क्या चुनाव आयोग निष्पक्ष है चर्चा करें?
   उत्तर- (20.2.2)

20.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. भारतीय शासन एवं राजनीति : सुशीला कौशिक
2. भारतीय शासन की रूप रेखा : पन्ना लाल श्रीवास्तव
3. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था : गोविन्द राम बर्मा

❖❖❖

भारतीय राजनीति में जाति व्यवस्था

पाठ संरचना

21.0 भूमिका

21.1 उद्देश्य

21.2 अर्थ

21.2.1 प्रकृति

21.2.2 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

21.2.3 जाति की भूमिका- वरदान या अभिशाप

21.3 सारांश

21.4 कुंजी शब्द

21.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

21.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

21.0 भूमिका

सामाजिक व्यवस्था में जाति एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यों तो मूल रूप से हिन्दू पद्धति में जाति व्यवस्था का निश्चित स्वरूप है, लेकिन कुछ हद तक यह भारत में अन्य समुदायों में भी पायी जाती है। जाति की वास्तविक प्रकृति एक बहस का विषय है, क्योंकि जैसा कि मायर्स का कहना है कि जाति भिन्न भिन्न लोगों के लिए भिन्न भिन्न अर्थ रखती है। कुछ लोगों के लिए जाति खास व्यवसाय वालों का समूह है जो जातिगत वैवाहिक बंधन होते हैं, जबकि कुछ लोगों के लिए जाति रक्त संबंध पर आधारित समुदाय है। आज भी यह एक विवाद का विषय है।

मुख्य मुद्दा यहां जाति पर आधुनिकीकरण एवं राजनीतिकरण के प्रभाव की समीक्षा करना है। नार्मन पामर के अनुसार एक सामाजिककर्त्ता के तत्त्व के रूप में जहाँ जाति का महत्त्व कम होता जा रहा है वहीं राजनीतिक तत्त्व के रूप में इसका महत्त्व बढ़ा है। प्रजातांत्रिक राजनीति ने जाति को सामाजिक संबंधों के स्तर से ऊपर लाकर प्रतियोगितात्मक राजनीति का एक हिस्सा बना दिया है। राजनीति में जाति का महत्त्व 1961 के चुनाव में एक उदाहरण बना। खासकर उत्तर प्रदेश में। एक पत्रकार की रिपोर्ट के अनसार- मतदान करना उत्तर प्रदेश में अपनी बेटी को ब्याह

देने का समान है। जिस प्रकार अपनी बेटी की शादी अपनी जाति में करने की प्रथा है उसी प्रकार अपनी जाति से जुड़े दल के उम्मीदवारों को ही मत देने की प्रथा है। राजनीति में जाति के महत्त्व के कारणों में सर्वाधिक स्वीकृत कारण कोठारी के अनुसार- राजनीतिक प्रक्रिया को राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए समाज में अवस्थित सामाजिक संरचनाओं की पहचान करना तथा अपने मत सम्मत बनाना या अपनी ओर झुकाना है। सामाजिक संरचना में जाति तत्त्व की पहचान आसानी से की जा सकती है तथा सामूहिक या समान कार्य के लिए उन्हें प्रेरित किया जा सकता है । राजनीतिज्ञ समझदारीपूर्वक अपने लाभ के लिए चुनाव मंडल के सदस्यों का शोषण करते हैं। यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि राजनीतिक दल भी जातिगत बहुलता के आधार पर अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं। एम0 एम0 श्रीनिवास ने जातिगत प्रभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि

(क) गांव या स्थानीय जगहों में जब कोई जाति सांख्यिक रूप से अधिक हो।

(ख) राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभाव का अगर उपोग करते हों। आगे उन्होंने बताया कि शक्तिशाली जाति संगठन और भी आसानी से प्रभावशाली हो सकता है अगर उसका स्थान रीति, पदसोपान में अधिक नीचे नहीं हो। लेकिन श्रीनिवास ने आगे इन बिन्दुओं पर भी प्रकाश डाला है कि मध्यवर्ती जाति जैसे कुर्मी, कोयरी एवं यादव बिहार में अपना एक प्रभावशाली स्थान रखते हैं और उच्च जाति के समकक्ष रीति में उनका विकास हुआ है, तथा संस्कारीकरण द्वारा सामाजिक पदसोपान में आगे बढ़ने की ये क्षमता रखते हैं, अर्थात उच्च जाति की तरह नीति, व्यवहार एवं जीवन शैली ग्रहण करके समाज में ये अपना ऊँचा स्थान बना सकते हैं। अंततः श्रीनिवास का यह मानना है कि प्रतिनिधित्यात्मक राजनीति ने जाति व्यवस्था को बल प्रदान किया है।

21.1 उद्देश्य

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अदभुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारंभ होने के पश्चात यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएं और लोकतन्त्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारंपरिक संस्था जातिवाद का अन्त हो जाएगा। किन्तु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहां सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वहां राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीति प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि लोकतान्त्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का भारत में लोप हो जाना चाहिए। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है। इस संबंध में रजनी कोठारी का अभिमत है कि- प्रथम, कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थ शून्य है। द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रुकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्मिची देशों में दबाव गुट। हमारे राजनीतिक एक अजीब असमंजस की स्थिति में हैं। जहां एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं।

21.2 अर्थ

जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गंभीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यह व्यवस्था एक अतिप्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेने के आधार पर समाज को कई भागों में बांट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य संभालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्गों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू शुरू में जाति प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्त-क्रिया असंभव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी। चूंकि वह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अत: उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्त्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्राय: उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाईचारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक दूसरे से भली भांति परिचित होते थे तथा एक दूसरे के सुख दुख में काम आते थे।

प्रो0 घुरिये ने जाति व्यवस्था की विशेषताएं बतायी हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. भारत में जाति ऐसे समुदाय हैं जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।
2. भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है।
3. जातियों के आधार पर खान पान और सामाजिक आदान प्रदान के प्रतिबन्ध लगे रहते हैं।
4. गांवों तथा शहरों में जाति के आधार पर पृथकता की भावना बनी रहती है।
5. कुछ जातियां कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती हैं।
6. जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान प्रदान होता है और जातियां कई उपजातियों में विभक्त होती हैं। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमांए हैं।

21.2.1 प्रकृति

दक्षिण भारत के उदाहरण एवं अनुभवों से ऐंड्रे बेटली ने जाति के स्वरूप को बदल दिया। उनके अनुसार सामाजिक विभागीकरण, आधुनिकता, धर्मनिरपेक्षता एंव राजनीतिक संस्थाओं के प्रभाव में आकर सामाजिक समूह, सामाजिक कार्यक्रम या कार्यात्मक संबंध दबाव गुट और यहां तक कि सामाजिक आर्थिक वर्ग में बदल रहे हैं। इस परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में जमीन के स्वामित्व की पद्धति साथ ही साथ बुद्धिजीवी तथा व्यावसायिक अभिजन वर्ण के झुकाव में बदलाव जो खुली शिक्षा पद्धति एवं भर्ति सेवा के कारण आया है। यह सच है कि राजनैतिक शक्ति मिली खास जगह पर मिली खास जाति को उसके स्तर को उठाने के लिए मदद करती है। लेकिन कुछ सामाजिक मूलक एवं समूह हैं जो जातिगत बन्धन या विचारों से स्वतन्त्र होते हैं।

दूसरी ओर विश्वविद्यालयों, व्यवसायों एवं नौकरशाही में जाति संगठन जीवित एवं क्रियाशील है। ऐंड्रे बेतें इस बात पर बल देते हैं कि जाति विशेष में भी सामूहीकरण होता है एवं जाति समूहों के लोगों के बीच सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति के संघर्ष हो सकते हैं। विभिन्न जातियों के बीच प्रतियोगिता एक जाति के लोगों के बीच प्रतियोगिता को जन्म देती है, जो अंतत: अंत:जातीय टुकड़ों में जन्म लेती हैं। उनका यह मानना है कि पंचायती राज्य

की नयी संस्थागत योजनाओं ने जाति की जगह स्तर को समाज में बढ़ावा दिया है।

उपरोक्त दोनों विचार से अलग एक संस्था के विचारकों का यह मानना है कि वर्तमान समय में जाति की एक नई भूमिका एवं कार्य हैं- शिक्षा प्रदान करना एवं नियोजन की सुविधा उपलब्ध कराना। जहाँ पहले जाति मात्र एक सामाजिक समूह था, वहीं आज एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समूह है। रजनी कोठारी के विचारानुसार- धर्मनिरपेक्षता के नये विश्व के उदय के बाद, राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने वाला एकमात्र जाति ही रह जाती है। राजनीति जाति पर आधारित नहीं है वरन जाति का ही राजनीतिकरण हैं।

परिणामस्वरूप जाति के राजनीतिकरण के कारण रूडोल्फ एवं रूडोल्फ के शब्दों में जाति राजनीतिक लामबंदी का एक सशक्त माध्यम बन गयी है। यह राजनीति शिक्षा का एक साधन भी हो गयी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जाति का राजनीति पर एक स्वतंत्र प्रभाव है। प्रतिरक्षात्मक विशेष सुविधा के कारण अनुसूचित जाति तथा अन्य जातियों के बीच खाई बढ़ी है।

राजनीति पर जाति का प्रभाव समूचे भारत पर एक समान नहीं है। स्थानीय स्तर पर यह और भी पेचीदा हो जाता है। इन कारणों से पंचायती राज्य संस्थाओं में राजनीति शुद्ध जातिगत राजनीति रह जाती है। लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर जाति की भूमिका बहुत अहम् नहीं रहती है। यह नाममात्र को अधिक तथा वास्तविक रूप से कम रहती है। हालांकि राष्ट्रीय स्तर पर जाति का प्रभाव कुछ उदाहरणों में प्रमाणित हो चुका है। जैसे ब्राह्मण एंव राजपूतों का केन्द्रीय मंत्रिमंडल में वर्चस्व रहता है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जातिगत राजनीति की अंत:क्रिया भारत के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अलग अलग महत्त्व रखती है। देश में बिहार को सर्वाधिक जातिगत राजनीति में लिप्त राज्य माना जाता है। पश्चिम बंगाल में जाति या धर्म से अधिक विचारधारा का महत्त्व है। लेकिन देश के किसी भी राज्य में राजनीति जाति से बिल्कुल अलग नहीं की जा सकती। कमोबेश मात्रा में इसका महत्त्व है ही।

जातिगत राजनीति का तीसरा मध्यमवर्ती जाति, किसानों एवं हरिजनों या भूमिविहीन किसानों के बीच संघर्ष का जन्म है। संघर्ष का स्वरूप नृशंस एवं हिंसात्मक होता गया तथा अधिकांश समय इसके भोगी हरिजन बने। मध्यमवर्गीय किसान अपनी नयी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के साथ इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि विकास का लाभ उनकी पहुंच के बाहर नहीं हो। दूसरी ओर हरिजन अपने उद्वेलित "स्व" के साथ अपने अधिकारों की रक्षा के साथ न सिर्फ पारंपरिक अभिजनों के साथ अपने संबंधों के स्तर को बढ़ाना चाहते हैं बल्कि नए और अमीर जो मध्यवर्गीय जाति से प्रतियोगिता में भी आना चाहते हैं। दूसरी ओर ये नए अमीर तथा मध्यवर्गीय जाति के लोग नए प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में अपनी सत्ता चाहते हैं।

इस आधारभूत विवाद ने कई संघर्षों को जन्म दिया जिसका स्वरूप हिंसात्मक भी था। बेलछी (1977) बिहार में, नारायणपुर (1980) उत्तर प्रदेश में, फिर पिपरा-कंसारा आदि काण्ड बिहार में हुआ। ऊपर से देखने पर ये खूनी संघर्ष जातिगत संघर्ष लगते हैं। लेकिन वास्तव में यह संघर्ष साधन युक्त और साधनहीन वर्गों के बीच का संघर्ष था। साथ ही यह राजनीति आधुनिकीकरण राजनीतिक लामबंदी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है- मूल रूप से यह राज्य की असफलता भी माना जा सकता है, खासकर सामाजिक विवाद को सुलझाने में।

1962 के चुनाव में पश्चिमी बड़ौदा के मतदान व्यवहार का अध्ययन करते हुए रजनी कोठारी ने यह कहा कि अभिजन वर्ग के बीच नेतृत्व एवं खंड संघर्ष था एवं कुछ समुदायों ने सामाजिक मतदान किया। कई अध्ययनों के पश्चात् कोठारी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जाति तत्त्व कभी कभी राजनीतिक दलों की अपील पर एवं विचारधाराओं के कारण राजनीति में नजर अंदाज भी किया जाता रहा है। इसीलिए जहाँ कुछ जाति मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है, वहीं कई जगहों पर इसका कोई प्रभाव नहीं रहता है।

बिहार में राजनीतिक कार्यक्रमों को निर्धारित करने में जाति की भूमिका है। मतदान राजनीति में जाति के प्रभाव

की पहचान आसानी से हो सकती है। राजनीतिक दल एवं नेता दोनों जातिगत मतदान के लिए जिम्मेदार हैं।

संविधान के कुछ प्रावधान भी जाति के राजनीतिकरण के लिए जिम्मेदार माने जा सकते हैं। धारा 19 के अनुच्छेद 3 में अनुसूचित जाति के द्वि-राष्ट्रीय संसद में सीटों के आरक्षण का प्रावधान है। जाति की दंबगता ही प्रभावात्मकता एवं अन्य गंभीर समस्याओं को जन्म देती है। जैसे सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवादं, भाषावाद आदि।

यह कहा जाता कि जाति की उत्पत्ति वैदिक समय में वर्ण व्यवस्था के रूप में हुई जो कार्यात्मक विशेषीकरण पर आधारित थी। लेकिन धीरे धीरे बाद में वैदिक समय में नयी जातिगत व्यवस्था ने एक जटिल स्वरूप को ग्रहण कर लिया। वर्त्तमान राजनीतिक एवं सामाजिक पद्धति में यह और जटिल हो गया है जो जन्म पर आधारित है।

जाति एवं राजनीति की अंत: क्रिया के संक्षेप में हम डी0 एस0 सेठ के शब्दों कह सकते हैं कि जाति और राजनीति दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, जाति को प्रतियोगिता क्षेत्र में लाकर राजनीति एवं जाति की अंत: क्रिया दो बातों को जन्म देती है :

(1) जाति का राजनीतिकरण एवं

(2) राजनीति का संस्थागत स्वरूप। सच तो यह है कि दोनों के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध है, अगर जाति राजनीति को प्रभावित करती है तो राजनीति भी जाति को उतना ही प्रभावित करती है। इस प्रकार भारत में जाति विहीन राजनीति की खोज समाज विहीन राजनीति को खोजना है।

21.2.2 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

जयप्रैकाश नारायण ने एक बार कहा था कि जाति भारत में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दल है। हेरल्ड गौल्ड के शब्दों में, राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्त्व है।

जाति व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है :

1. निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावक भूमिका : भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ संविधान में अनुसूचित जातियाँ और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गए हैं जिनके कारण ये जातियों संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती हैं किं सुविधाओं को और अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2005 तक के लिए बढ़ा दिया जाय।

2. राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय : भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय, जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में उत्तर प्रदेश और बिहार में जनता दल की अपूर्व विजय का एक कारण जाट-राजपूत समर्थन है।

उत्तर प्रदेश में बहुजन पार्टी का उदय और आधार कतिपय पिछड़ी जातियों के समर्थन पर निर्भर है।

देश के नवें रांष्ट्रपति निर्वाचन के अवसर पर वी0 पी0 द्वारा किसी हरिजन या वनवासी राष्ट्रपति की मांग ने चुनावी राजनीति में एक नया आयाम जोड़ दिया।

3. जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार : भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्राय: उकसाया जाता है ताकि संबंधित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके।

मंडल विवाद के कारण 1990-91 में समाज जाति के आधार पर दो भागों में बंट गया और गांवों एवं शहरों

में जातियुद्ध सा छिड़ गया। राजनीतिक पार्टियां सिर्फ एक चुनवी मुद्दे पर बात करने लगीं- पिछड़े बनाम अगड़े का।

4. मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व : राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धंस गया है कि राज्यों में मन्त्रिमण्डल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया है। प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए।

5. जातिगत दबाव समूह : मेयर के अनुसार, जातीय संगठन राजनीतिक महत्त्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त हैं। जातिगत दबाव समूह अपने व्यस्त स्वार्थी एंव हितों की पूर्ति के लिए नीति निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाए जाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।

6. जाति एवं प्रशासन : लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है।

7. राज्य राजनीति में जाति : माईकल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी जातियां हैं। पृथक झारखण्ड राज्य की मांग वस्तुतः एक जातीय मांग ही रही है।

21.2.3 जाति की भूमिका : वरदान या अभिशाप

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कई लोग जाति को राजनीति का कैन्सर मानते हैं। जाति प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक माना जाता है, क्योंकि इससे व्यक्तियों में पृथकतावाद की भावना जाग्रत होती है। राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। जाति निष्ठाओं का सृजन कर यह प्रथा लोकतन्त्र के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। डी0 आर0 गाडगिल के अनुसार क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में बाधक सिद्ध हुई है। प्रसिद्ध समाजशात्री एम0 एन0 श्रीनिवास का स्पष्ट मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाए अपने मूल रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही हैं।

दूसरी तरफ अमरीकी लेखकों- रूडाल्फ एण्ड रूडाल्फ का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के सांचे का कार्य किया है। वे लिखते हैं, कि अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समज में प्रतिनिधि लोकतन्त्र की सफलता तथ भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है।

संक्षेप में, चाहे जाति आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक न हो तथापि राजनीति में जाति का हस्तक्षेप लोकतन्त्र की धारणा के प्रतिकूल है। जातिवाद देश, समाज और राजनीति के लिए बाधक है। विविधता की सीमाएं होती हैं इस देश में इतनी जातियां, उपजातियां तथा सहजातियां पैदा हो गयी हैं कि वे एक दूसरे से पृथक रहने में ही अपने अपने असितत्व की रक्षा समझती हैं। यह पृथकतावादी दृष्टि राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यधिक घातक है।

21.3 सारांश

जाति व्यवस्था भारतीय राजनीति में किसी न किसी रूप में पायी जाती है। यह अति प्राचीन व्यवस्था रही है

विचारक इनके अलग अलग अर्थ निकालते हैं किन्तु यह सब स्वीकारते हैं कि भारतीय राजनीति जाति प्रथा के बिना अधूरी है। प्रो0 रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स में जाति का विस्तृत विश्लेषण किया है। इन्होंने जाति व्यवस्था का तीन रूप बताया है।

(1) लौकिक

(2) एकीकरण तथा

(3) चैतन्य रूप।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संकलन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है। भारत में राजनीति जाति के इर्द-गिर्द घूमती है। जातियों का प्रमुख कार्य है :

1. निर्णय प्रक्रिया में प्रभावात्मक भूमिका
2. राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय
3. जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार
4. मंत्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व
5. जाति दबाव समूह
6. जाति एवं प्रशासन
7. राज्य राजनीति में जाति

जाति का प्रभाव पूरे भारत में एक समान नहीं है। स्थानीय स्तर पर यह बहुत असरदार है। बिहार में जाति प्रथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जाति एवं राजनीति में पारस्परिक संबंध है। अत: भारत में जाति विहीन राजनीति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

21.4 कुंजी शब्द

1. आधुनिकीकरण
2. राजनीतिकरण
3. मतदान राजनीति
4. पृथकतावादी

21.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की समीक्षा करें।
   उत्तर- (21.0-21.2.3)
2. जाति की भूमिका भारतीय राजनीति के लिए वरदान है या अभिशाप। चर्चा करें।
   उत्तर- (21.2-21.2.3)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

3. जाति के प्रमुख कार्यों की चर्चा करें।
   उत्तर- (21.2.2)

4. जाति की प्रकृति पर प्रकाश डालें।

उत्तर- (21.2.1)

21.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. दल बदल और राज्यों की राजनीति : डॉ0 सुभाष कश्यप
2. कास्ट पॉलिटिक्स इन इण्डिया : रजनी कोठारी

❖❖❖

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता

पाठ संरचना

22.0 भूमिका

22.1 उद्देश्य

22.2 साम्प्रदायिकता का अर्थ

22.2.1 साम्प्रदायिकता का उदय

22.2.2 साम्प्रदायिकता का विकास

22.2.3 साम्प्रदायिकता के कारण

22.2.4 निष्कर्ष

22.2.5 मुख्य साम्प्रदायिक घटनायें

22.3 सारांश

22.4 कुंजी शब्द

22.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

22.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

22.0 भूमिका

संविधान द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्यघोषित किया गया है। फिर भी भारतीय राजनीति में धर्म की एक विशेष भूमिका है। हम धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना तो कर पाए हैं, किन्तु धर्मनिरपेक्ष समाज की नहीं । धार्मिक विभिन्नता के कारण समाज में विभिन्न प्रकार के तनाव पैदा होते हैं और इन तनावों को बढ़ाने में राजनीतिज्ञ भी भूमिका अदा करते हैं। इससे उनके स्वार्थ सिद्ध होते हैं। बी0 जी0 गोखले जैसे अनेक व्यक्तियों ने आशा व्यक्त की थी कि राजनीति से धर्म के अलग हो जाने से हिन्दू और मुसलमानों के पुराने विरोध फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे। किन्तु पिछले 40 वर्षों में गुजरात, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश राज्यों में हुई घटनाएं इस बात का सबल प्रमाण है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य अभी भी विद्यमान है, जो छोटी छोटी घटनाओं से भड़क उठता है और भारत की राजनीति

एवं शासन उससे आक्रान्त हो उठते हैं।

22.1 उद्देश्य

स्वाधीनता के बाद शुरू हुए चुनावों की राजनीति ने धर्म और सम्प्रदाय के नकारात्मक महत्व को उभारा है। किसी ने लिखा है कि, पहले लोग समझते थे कि राजनीतिज्ञ धर्म और सम्प्रदाय का शोषण करते हैं। पर अब हालत यह हो गयी है कि धर्म और सम्प्रदाय राजनीति का शोषण करने लगे हैं। एक तरह से सम्प्रदाय राजनीतिक दलों के लिए वोट बैंक बन गए हैं। राजनीतिक शक्ति के रूप में धर्म और सम्प्रदाय का खूब दुरुपयोग हो रहा है। राजनीतिक दल सम्प्रदाय एवं जाति की घटती बढ़ती निष्ठा के खिलौने बनकर रह गए हैं। साम्प्रदायिकता, एक विशेष स्तर पर पहुंचकर साम्प्रदायिक हिंसा का रूप ले लेती है। भारत में साम्प्रदायिकता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, जिसके विषय में समाजशास्त्री एकमत है, यह है कि यह शहरों में दिखायी पड़ती हैं। साम्प्रदायिकता की जड़ें निम्न बुर्जुआ वर्ग में होती हैं। पिछड़े समाज में परम्परागत धर्म के प्रति सबसे अधिक आकर्षण इसी वर्ग में होता है। राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ और जमाइते इस्लामी दोनों का ही आधार निम्न बुर्जुआ वर्ग है। इन समुदायों के उच्च वर्ग अपने अपने समुदाय के निम्न बुर्जुआ वर्गों की धार्मिक भावनाओं का सफलता पूर्वक उपयोग कर अपना स्वार्थ साधते हैं। फलस्वरूप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर साम्प्रदायिकता का संकट सदैव छाया रहता है।

22.2 साम्प्रदायिकता का अर्थ

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएं व कियाकलाप आ जाते हैं, जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाय और पुत्र हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाए तथा उस समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न की जाए या उसको प्रोत्साहन दिया जाए। पारसियों, बौद्धों, जैनों तथा ईसाइयों के अपने अपने संगठन हैं, साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं। परन्तु ऐसे संगठनों को सामान्यतः साम्प्रदायिक कहा जाएगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा समूहों के अधिकारों तथा हितों को राष्ट्रीय हितों के भी ऊपर रखते हैं। विंसेंट स्मिथ के शब्दों में, ''एक साम्प्रदायिक व्यक्ति समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूह की विचारधारा को सम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता कहा जाएगा।''

सामान्यतः एक सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण समाजविरोधी होता है। उनको समाज विरोधी इसलिए कहा जा सकता है कि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए अन्य समूहों के और सम्पूर्ण देश के भी हितों की अवहेलना करने से पीछे नहीं हटता। साम्प्रदायिक संगठनों का उद्देश्य शासकों के ऊपर दबाव डालकर अपने सदस्यों के लिए अधिक सत्ता, प्रतिष्ठा, राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना होता है।

जब एक समुदाय जान बूझकर धार्मिक सांस्कृतिक भेद के आधार पर राजनीतिक मांगें रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदायवाद के रूप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती है। राजनीतिक स्वायत्तता को तब सांस्कृतिक स्वायत्तता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है। बहुसांस्कृतिक समाज में सामाजिक तनाव तथा टकराव वास्तव में विभिन्न समूहों के बीच चल रहे सत्ता द्वन्द्व के लक्षण हैं। इस पारस्परिक द्वन्द्व को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करना एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में सम्प्रदायवाद का मूल सार है।

22.2.1 साम्प्रदायिकता का उदय

मानव इतिहास में धर्म के नाम पर सदैव विवाद उठते रहे हैं। धर्म की दृष्टि से भारत विशेष रूप से हतभाग्य

रहा है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने भारत में अपना शासन बनाए रखने के लिए धार्मिक भेद भावों का विशेष लाभ उठाया। अंग्रेजी शासनकाल में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिक रूप मिलने का एक कारण यहां प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना थी। अग्रेंज लोग प्रतिनिधित्त्व का अर्थ अलग अलग समूहों, वर्गो, हितों, क्षेत्रों, सस्थाओं और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व समझते थे। उन्होंने भारत के अनेक सम्प्रदायों और जातियों की समस्या समझा और उपाय अलग अलग धार्मिक समूहों को पृथक पृथक प्रतिनिधित्व देने में समझा।

स्वतन्त्रता के बाद पिछने 46 वर्षो में देश में हुई साम्प्रदायिक घटनाओं की कुल तादाद आज लगभग 5,000 ठहरती है। गृह मंत्रालाय के साम्प्रदायिक एकता प्रकोष्ठ की 1980-81 की रपट के अनुसार सन 1977 तक साम्प्रदायिक हिंसा की जो घटनाएं 17.6 हो गयीं और सन् 1982 के बाद तो उनमें 50 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। सन 1961 में सम्प्रदायिक तनाव की दृष्टि से देश में 61 जिले पुलिस द्वारा गड़बड़ी वाले जिले माने गए, 1990 में ऐसे जिलों की संख्या 100 हो गयी। 88 अन्य जिले तो एेसे माने जाते हैं जहां किसी समय कुछ भी हो सकता है। इन जिलों में से 36 तो सिर्फ उत्तर प्रदेश में हैं।

22.2.2 साम्प्रदायिकता का विकास

अग्रेंजों के आने से पूर्व भारत में हिन्दू मुस्लिम शासकों और नवाबों के हाथों में सत्ता थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी उनसे डरती थी। फलतः उन्होंने हिन्दुओं की सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश की। पलासी के युद्ध के बाद जब कम्पनी के हाथ में शासन सत्ता आने लगी तो उसने मुसलमानों के प्रति सौतेला व्यवहार किया और हिन्दुओं को नौकरियों में प्रोत्साहन देकर मुसलमानों के प्रति उपेक्षा की नीति अपनायी। वहाबी आन्दोलन के स्प में मुस्लिम असन्तोष व्यक्त हुआ। सन् 1857 की क्रान्ति में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंगेंजों का विरोध किया अंग्रेज इसे मुस्लिम विद्रोह मानते थे, जिसके माध्यम से मुसलमानों ने मुगल शासन की स्थापना करने की चेष्टा की थी। अतः उन्होंने मुसलमानों के विरोध और दमन की नीति अपनायी। कुछ समय बाद हिन्दुओं के विकास, उन्नति, और आधुनिकीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से अंग्रेज उनसे भी डरने लगे। अब उन्होंने मुसलमानों से मित्रता की चातुर्यपूर्ण नीति अपनायी। इसके फलस्वरूप मुहमडन एंग्लो ओरियण्टल डिफेंस एसोसिएशन की स्थापना हुई। मुसलमानों को खुश करने एवं उनकी राजभक्ति प्राप्त करने के लिए सन् 1950 में कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। बंगाल का विभाजन फूट डालो और शासन करो की कुटिल नीति का ही परिणाम था। भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए 1906 में ढाका में ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। 1908 में लीग ने मुसलमानों को आवादी से अधिक स्थान दिए जाने की मांग की। 1909 में मार्ले मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक चुनावों की व्यवस्था के समावेश के रूप में लीग का अस्तित्व साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा मुसलमानों के लिए प्रतिनिधित्व गुरुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, जो एकदम गलत था। 1919 के ऐक्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए कायम रखा गया वरन सिक्खों, यूरोपियनों और आंग्ल भारतीय समुदायों के लिए भी इसे अपना लिया गया। सन 1935 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक राजनीति के खलनायक बन गए। सन 1935 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार किया गया। सन् 1940 में जिन्ना ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और अन्त में 1947 में साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन हुआ। भारत की संविधान निर्मात्री सभा का शुरू में गठन (1946) प्रान्तों की विधानसभाओं के सदस्यों के साम्प्रदायिक समूहों द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से हुआ था।

22.2.3 साम्प्रदायिकता के कारण

यह प्रश्न विशेष महत्व का है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी भारत में साम्प्रदायिकता के तत्त्व क्यों दिखाई देते हैं ? स्वाधीनता से पूर्व अंग्रेजों ने फूट डालो और राज करो की नीति अपनायी थी किन्तु देश के विभाजन के

बाद राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात भी साम्प्रदायिकता का रंग क्यों दिखलायी देता है।? इसके निम्न कारण हैं:

1. मुसलमानों में पृथक्करण की भावना : ऐसा माना जाता है कि मुसलमानों में पृथक्करण की भावना आज भी विद्यमान है और वे अपने को राष्ट्रीय धारा में समाविष्ट नहीं कर पाए। अनेक मुस्लिम नेताओं ने स्वाधीनता के बाद इस बात का प्रचार किया कि उन्हें मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह में शामिल होने के लिए ऐसे राजनीतिक दलों को सहयोग देना चाहिए जिनका विश्वास धर्मनिरपेषता, समाजवाद तथा आर्थिक न्याय में है। परन्तु इन विचारों का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक मुस्लिम नेताओं और संगठनों ने इस बात का प्रचार किया कि मुस्लिम सम्प्रदाय के हितों की सुरक्षा के लिए उन्हें पृथक रूप से भाग लेना चाहिए। 1961 में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की गई और यह प्रचार किया गया कि भारत में मुस्लिम लीग ही मुस्लिम हितों का संरक्षण कर सकती है।

2. मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन : यह बात सच है कि अंग्रेजी काल से ही मुसलमान आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए रहे हैं। स्वाधीनता के बाद भी उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पायी। शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों, व्यापार एवं उधोग धन्धों में उनकी स्थिति नहीं सुधर पायी। आज भी उनका आधुनिकीकरण नहीं हो पाया है। इससे उनमें असन्तोष बढ़ा और उनका मनोबल भी गिरा है। कभी कभी वह असन्तोष उग्र रूप ले लेता है और कभी कभी यह असन्तोष हिंसा के रूप में भी प्रकट होता है।

3. पाकिस्तानी प्रचार : जब भारत में हिन्दू मुस्लिम तनाव की कोई छिट फुट घटना हो जाती है तो पाकिस्तानी रेडियो तथा समाचार पत्र इसको तूल, देने का प्रयास करते हैं। वे भारत सरकार की आलोचना करते हैं और ऐसी घटनाओं को हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों का जातिवध कहकर पुकारते हैं। पाकिस्तानी ऐसा इसलिए करता है जिससे वह भारत की धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी भावनाओं को उत्तेजित कर सके। भारत में गरीब और अशिक्षित मुसलमान यह मान बैठते हैं कि पाकिस्तान उनके हितों की रक्षा के लिए कह रहा है।

4. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद : भारत के हिन्दु सम्प्रदाय में भी ऐसे लोग तथा गुट हैं जो धर्मान्धताकी संकीर्ण भावनाओं से ओत प्रोत हैं। हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ जैसे संगठनों ने हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को बराबर उत्तेजित किया है। ये लोग यहां तक कहते हैं कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दू धर्म के अनुयायियों को ही इस देश में निवास करने का अधिकार है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मुसलमानों का कट्टर विरोधी रहा है। इसके समर्थकों का मत है कि भारतीय राष्ट्रीयता का आधार हिन्दुत्त्व ही हो सकता है। ये ऐसा मानते हैं कि ईसाई, मुस्लिम, इत्यादि भारतीय के लिए खतरा है। इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति साम्प्रदायिकता उत्पन्न करती है।

5. सरकार की उदासीनता : सरकार और प्रशासनकी उदासीनता के कारण भी कभी कभी साम्प्रदायिकता दंगे हो जाते हैं। सामान्य सी घटना प्रशासन की असावधानी के कारण कई बार साम्प्रदायिक दंगों का रूप ले लेती है। शहबानों के मामले में राजीव सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के फैसले को नहीं माना और सम्प्रदायिक दबाव के चलते मुस्लिम महिला विधेयक पास करवाया, अब विश्व हिन्दू पषिद कहती है कि वह भी राम जन्म भूमि के मामले पर हाईकोर्ट का फैसला मानने के लिए बाध्य नहीं है।

6. वास्तविक अपराधी तो राजनीतिक दल है : साम्प्रदायिक दंगों सम्बन्धी सात जांच आयोगों की रिपोर्ट का विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि उन सभी में किसी न किसी रूप में राजनीतिक दलों की आलोचना की गयी है। रघुबीर दयाल आयोग (1969) ने कहा है कि राजनीतिक दलों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिक तथा जातीय भावनओं को नहीं उभारना चाहिए। दत्ता आयोग (1970) ने कहा कि राजनीतिक दलों को किसी समुदाय की धार्मिक भावनाओं के नाम पर अपील करके वोट प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

7. साम्प्रदायिक घटनाओं के पीछे विदेशी हाथ होने का आरोप भी आजकल जोरशोर से सुनाई पड़ रहा है। कुछ वर्ष पूर्व जब तमिलनाडु में हरिजनों का धर्म परिवर्तन करके उन्हें मुसलमान बनाया गया तो केन्द्रीय सरकार ने यह

आकलन प्रस्तुत किया था। इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि इस क्षेत्र में हरिजनों का धर्म परिवर्तन करने के लिए जमायतं इस्लामी हिन्द और अन्य कट्टर पन्थी गुट जिस उत्साह से कार्यरत हैं, संगठनों की ओर से पिछले दो तीन वर्षो से धनराशि प्राप्त हो रही है। इस क्षेत्र के समृद्व और सम्पन्न मुसलमानों ने, जिनके खाड़ी के देशों और दक्षिण पूर्व में स्थित मुस्लिम संगठनों के गहन व्यावसायिक संपर्क और संबंध है, मुस्लिम संगठनों के प्रयासों को बढ़ावा दिया है।

21.2.4 निष्कर्ष

भारत में साम्प्रदायिता विभिन्न धर्मो के निहित स्वार्थों के पारस्परिक संघर्ष की ही छद्म अभिव्यक्ति थी। इन निहित स्वार्थो ने अपने इस संघर्ष को साम्प्रदायिक जामा पहना रखा था। विभिन्न सम्प्रदायों के पेशेवर वर्गो की पदों और स्थानों की लड़ाई भी इसी छद्म रूप में लड़ी जाती रही। के0 वी0 कृष्ण ने अपनी पुस्तक ''दी प्राब्लम ऑफ मिनारिटीज'' (1939) में लिखा है कि कुछ दूसरे प्रकार के भी संघर्ष थे जिन्होंने मूलतः आर्थिक होने पर भी साम्प्रदायिक रूप लिया। बंगाल जैसे प्रान्तों में, ऐतिहासिक कारणों से, किसान प्रधानतः मुसलमान थे और जमींदार मुख्यतः हिन्दू। किसानों के सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण सम्प्रदायवादियों के लिए मुसलमान बशईदारों और हिन्दू जमींदारों के बीच वास्तविक आर्थिक संघर्ष को साम्प्रदायिक संघर्ष के रूप में प्रस्तुत और परिणत करना आसान था। इसी कारण हिन्दू महाज़नों और मुस्लिम कर्जदारों के द्वन्द्व कभी मुसलमानों के शोषण के प्रतिफल थे और इस तरह इन्हें भी सम्प्रदायवादियों ने साम्प्रदायिक रूप दिया। जमींदार बटाईदार का या सूदखोर कर्जदार का संघर्ष गलत तौर पर साम्प्रदायिक संघर्ष के रूप में वर्णित हुआ।

22.2.5 साम्प्रदायिक घटनायें

सन् 1987 में शहर में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए जिनमें 300 लोगों की जाने गईं। आजादी के बाद मेरठ जिले में हुए 12 बड़े दंगों में 1,500 से ज्यादा लोग मारे गए। उत्तर प्रदेश में दंगों के कारण पिछले एक दशक में 5,500 लोगों की जानें जा चुकी हैं और 1000 करोड़ रुपये की सम्पत्ति स्वाहा हुई है। गुजरात भी साम्प्रदायिक हिंसा के लिए संवेदनशील हो चुका है। मई 1987 में पुरानी दिल्ली के अनेक क्षेत्र में साम्प्रदायिक हिंसा की चपेट में आ गया। हिंसा की इस घटना में 600 से अधिक लोग मारे गए तथा 1,500 से अधिक घायल हुए। 50 हजार लोग बेघर हो गए एवं करीब 25 लाख लोग भुखमरी के शिकार हुए।

गृह मंत्रालय के ताजा दस्तावेज के अनुसार, किसी मुद्दे ने हिन्दू मुस्लिम समुदाय के आपसी सदभाव को इस कदर नहीं बिगाड़ा जितना कि राम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद ने बिगाड़ दिया। ''आगे कहा गया है कि राजनीति को साम्प्रदायिकता का जामा पहनाने की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्ध सामान्य बनाने की प्रक्रिया में बड़ी बाधा पैदा हो गई है। राम जन्मभूमि के मुद्दे को भारतीय जनता पार्टी ने अपनी हिन्दू छवि पुनर्स्थापित करने और अपने परम्परागत बोट बैंक पर अधिकार करने का अवसर देखा। पिछले वर्षो में राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में जो दंगे हुए उनमें नई बात यह है कि साम्प्रदायिकता ग्रामीण इलाकों में भी तेजी से फैल रही है। 1988 में 611 साम्प्रदायिकता हादसों में 55 प्रतिशत गांवों में हुए । 1971 में, अति गम्भीर किस्म के दंगों की संख्या 80 थी जो 1988 में बढ़कर 213 पर पहुँच गई। 1989-90 के मध्य उत्तर प्रदेश में 40 से अधिक कस्बे साम्प्रदायिक दंगों से ग्रस्त थे जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के सबसे भयंकर दंगे थे। उत्तर प्रदेश के जिलों में एक के बाद एक होने वाले इन दंगों में सैकड़ों लोग मारे गए और इससे अधिक घायल हुए तथा हजारों घरों को आग लगा दी गई। एक समय ऐसा भी आया जबकि 40 से अधिक कस्बों में दंगों के कारण अनिश्चितकालीन कर्फ्यु लगा दिया गया था। राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद के मामला ने भी साम्प्रदायिक दंगों को उकसाया 1992 में साम्प्रदायिक दंगों में आम जनता मारी गयी, संपत्ति का नुकसान हुआ और नेताओं ने सत्ता की रोटी सेंकी। 1984 में हिन्दू और सिक्ख के बीच सम्बन्ध खराब होने का कारण था इंदिरा गांधी की हत्या। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी एवं विश्व हिन्दू परिषद

की मन्दिर बनाने की बात को लेकर भी अभी साम्प्रदायिक दंगे की सम्भावना हुई है।

22.3 सारांश

भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित हुआ है परन्तु आज तक साम्प्रदायिक दंगों का अन्त नहीं हुआ है। आजादी के पूर्व साम्प्रदायिकता को अंग्रेजों ने बढ़ावा दिया। 1857 से 1947 तक फूट डालो और शासन करो की राजनीति चलती रही। स्वाधीनता के बाद चुनावों की राजनीति ने साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा दिया। साम्प्रदायिकता का अर्थ संकीर्ण होता चला गया।

भारत में साम्प्रदायिकता के सात प्रमुख कारण बताये जाते हैं :

1. मुसलमानों में पृथक्करण की भावना
2. मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन
3. पाकिस्तानी प्रचार
4. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद
5. सरकार की उदासीनता
6. राजनीतिक दल की भूमिका
7. विदेशी हाथ

मानव इतिहास में धर्म के नाम पर सदैव विवाद उठते रहते हैं। धर्म की दृष्टि से भारत विशेष रूप से हतभाग रहा है। हिन्दू और मुसलमान की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा रखने वाले परम्परावादी अभिजन लोगों ने अपने स्वार्थ व लिए सैद्धान्तिक जामा पहना कर बढ़ावा दिया है।

22.4 कुंजी शब्द

1. पृथक्करण
2. उदासीनता
3. धर्म निरपेक्ष

22.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता की भूमिका की विवेचना कीजिए।

   उत्तर (22.0-22.2.4)

2. साम्प्रदायिकता के उद्भव के प्रमुख कारणों की चर्चा कीजिए।

   उत्तर (22.0-22.2.3.)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

3. टिप्पणी दीजिए।

   (1) सरकार की उदासीनता

   उत्तर- (22.2.3)

2. फूट डालो और शासन करो

   उत्तर- (22.2.1)

3. आजादी क़े पूर्व साम्प्रदायिकता का उद्‌भव ।

22.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1.	भारतीय संविधान	:	पायली
2.	भारतीय संविधान	:	सुभाष कश्यप
3.	भारतीय शासन एवं राजनीति	:	डॉ0 पुखराज जैन, डॉ0 बी0 एल0 पाड़िया

❖❖❖

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद

पाठ संरचना

23.0 भूमिका

23.1 उद्देश्य

23.2 अर्थ

23.2.1 क्षेत्रीयतावाद के कारण

23.2.2 क्षेत्रीयतावाद-एक विश्लेषण

23.2.3 दुष्परिणाम

23.2.4 क्षेत्रीयतावाद रोकने का उपाय

23.2.5 मूल्यांकन

23.3 सारांश

23.4 कुंजी शब्द

23.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

23.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

23.0 भूमिका

विकासशील समाजों की एक महत्त्वपूर्ण समस्या राष्ट्रीय एकीकरण की रही है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया इन देशों की राजनीतिक प्रक्रिया से गहराई से जुड़ी हुई है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया के संदर्भ में ही विकासशील देशों के राजनीतिक विकास को समझा जा सकता है। राष्ट्रीय एकीकरण के भावात्मक तत्त्वों की जब हम खोज करते हैं तो हमारा ध्यान उन जातीय, भाषागत, धार्मिक, क्षेत्रीयता पर आधारित परम्परागत निष्ठाओं की ओर जाता है जो संकीर्ण क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा देते हैं।

23.1 उद्देश्य

क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे-से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक,

सामाजिक, आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है। साधारण शब्दों में क्षेत्रीयतावाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एवं प्रयत्नों से है जिसके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।

क्षेत्र शब्द के बहुत सारे अर्थ हैं। मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली सांस्कृतिक समानता है। किसी भौगोलिक क्षेत्र को भी क्षेत्र के आधार पर सम्बोधित किया जा सकता है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । और अपने निवास के आस-पास की भूमि से उसका भावनात्मक सम्बंध स्थापित हो जाता है और कालान्तर में अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित हो जाती है । इस दृष्टि से क्षेत्र एक तरह से समाजशास्त्रीय अभिधारणा है जिसे विविध सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है । किसी भी भू भाग को क्षेत्र कहने के लिए कतिपय तत्त्वों का होना आवश्यक है, किन्तु आज तक उन तत्त्वों का ठीक तरह से निर्धारण नहीं हो सका है। यदि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी स्थान पर कुछ प्रक्रिया तथा धारणाऐं समाज के अन्य भागों से भिन्न हों और लगातार काफी समय से चाहे अलग-अलग मात्रा से सही, चली आ रही हों तो उस भाग को एक अलग क्षेत्र कहा जा सकता है।

23.2 अर्थ

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय है- राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण दिखाना। इस दृष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होना है। भारतीय राजनीति के संदर्भ में यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है। क्षेत्रीयता की भावना सारे देश में व्याप्त है जो कि प्राय सुनियोजित एवं सुव्यस्थित आन्दोलनों तथा अभियानों के रूप में प्रकट होती है।

क्षेत्रवाद आज भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में एक अत्यन्त व्यापक घटना है और कम से कम निकट भविष्य में जनसाधारण के मस्तिष्क से इस धारणा के दूर होने के कोई चिन्ह दिखायी नहीं देते। आधुनिक युग में संचार व्यवस्था के नए साधनों, अंग्रेजी प्रशासन व्यवस्था के तरीकों और नीतियों, उपनिवेशवाद से उत्पन्न समस्याओं तथा स्वतन्त्रता के पश्चात आधुनिकीकरण को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने की प्रक्रियाओं ने, क्षेत्रवाद और अन्य भावों को अधिक सचेत और सक्रिय किया है।

भारत न केवल भौगोलिक दृष्टि से एक विशाल देश है अपितु वैचारिक, परंपरा, धर्म, संस्कृति से भी इसकी विशालता प्रकट होती है। विदेशी ताकतों ने भारत की इस सामाजिक, सांस्कृतिक विविधता का शोषण किया। स्वतन्त्रता की बेला पर भारत दो भागों में विभक्त था- ब्रिटिश भारत के प्रान्त एवं देशी रियासतें। ब्रिटिश भारत में राजनीतिक चेतना तो जाग्रत हुई किन्तु ब्रिटिश भारत के प्रान्तों का विभाजन अंग्रजों ने तार्किक आधार पर नहीं किया, अपितु अपने न्यस्त हितों को ध्यान में रखकर किया। देशी रियासतों में थोड़ी बहुत आन्तरिक स्वायत्तता थी। राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए अंग्रेजों ने इन रियासतों का सहयोग प्राप्त किया। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्त्व के सामने सबसे बड़ी चुनौती राजनीतिक एकीकरण की थी। इस सन्दर्भ में प्रारम्भिक रूप से दो समस्याएं सामने आयीं- राज्यों का भारतीय संघ में विलीनीकरण और भारतीय संघ के अन्तर्गत केन्द्र राज्य संबंधों का निर्धारण। इन दोनों समस्याओं के संदर्भ में विभिन्न क्षेत्रों का भारतीय मानचित्र में पुनर्सीमांकन एक चुनौती थी। इस तरह क्षेत्रीयतावाद का उदय ब्रिटिश शासन की विरासत है। आगे चलकर भारत में सरकारी भाषा, शिक्षा के माध्यम, राजस्व और स्रोतों के बंटवारे इत्यादि के प्रश्नों को लेकर क्षेत्रवाद की भावना में बढ़ोत्तरी होती गयी।

23.2.1 क्षेत्रीयतावाद के कारण

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :

1. भौगोलिक : भौगोलिक दृष्टि से भारत के कई राज्य आज भी बहुत बड़े हैं। इन बड़े राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान में छोटे छोटे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ का क्षेत्र, मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ का क्षेत्र आदि को यदि पृथक राज्यों का दर्जा दे दिया जाए तो भी वे कोल, नागालैण्ड से तो बड़े राज्य ही बनेंगे।

2. सांस्कृतिक : कुछ राज्यों में कई भाषाभाषी एवं संस्कृति के लोग रहते हैं। उन्हें अपनी भाषा एंव संस्कृति पर गर्व है। इसी आधार पर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने भारतीय संघ से अलग होने की बात कही थी।

3. ऐतिहासिक : राज्य पुनर्गठन के बाद कई पुरानी रियासतों को राज्यों में मिला दिया जाता था। आज भी इन रियासतों के लोग यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही पृथक राज्य होता तो वे अधिक लाभ की स्थिति में होते। केवल ऐतिहासिक संबंधों के आधार पर ही पुराने क्षेत्रें की चर्चा की जाती है। दूसरे शब्दों में, सारे भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रों के आधार पर भिन्न है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक विरासत, लोक परम्पराओं, सामाजिक मिथकों तथा लक्षणों के आधार पर क्षेत्रवाद के अस्तित्व को सहायता मिलती है।

4. आर्थिक कारण : भारत के कुछ राज्यों के कुछ क्षेत्रों में अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास की दृष्टि से कुछ क्षेत्र पिछड़ गए। इससे इन पिछड़े क्षेत्रों में असन्तोष फैलने लगा और क्षेत्रीयतावाद की भावना फैलने लगी। उदाहरणार्थ, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना का क्षेत्र, राजस्थान में दक्षिणी पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ क्षेत्र में तेज़ रफ्तार से विकास नहीं हो पाया और वे अपने लिए पृथक राज्य की मांग करने लगे।

उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्यमंत्री जे0 बी0 पटनायक ने सरकारी आंकड़ों का हवाला देते हुए कहा कि आर्थिक विकास में पूर्वी राज्यों की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय आर्थिक असन्तुलन और विषमताएं बढ़ी हैं। उनके अनुसार अखिल भारतीय वित्तींय सार्वजनिक संस्थाओं एवं निकायों द्वारा दी जाने वाली सहायता एवं वित्तीय निवेश में पूर्वी राज्यों को उनका समुचित हिस्सा नहीं मिल पाता है। सन् 1985 तक प्रति व्यक्ति गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थानों से सार्वजनिक क्षेत्र में सहायता इस प्रकार रही हैं। पश्चिमी बंगाल 217 रू०, उड़ीसा 11 रू०, असम 75रू०, बिहार 69रू०, जबकि अखिल भारतीय औसत 24रू रहा है। हरियाणा, कर्नाटक, तमिलनाडु और पंजाब का औसत क्रमशः 365रू०, 363रू०, 361रू० तथा 350 रू० रहा है।

आर्थिक स्रोत कम है और मांगों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। मांग और उत्पादन में अन्तर का एक प्रभाव यह है कि व्यक्ति, समुदाय, वर्ग और क्षेत्र सभी स्तरों पर प्रतिस्पर्द्धा होती है।

5. भाषा : भारत में भाषागत विविधता रही है। उत्तर और दक्षिण की भाषा एक दूसरे से भिन्न रही है। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुआ और राष्ट्रीय एकता संकट में पड गयी।

6. जाति : जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की प्रधानता रही वहां क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति दिखलायी देती है। हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति फैलाने में जाति प्रभाव-तत्त्व रहा है।

यद्यपि जाति व्यवस्था क्षेत्रवाद के लिए अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है, परन्तु जहां यह आर्थिक हितों (जैसे महाराष्ट्र में मराठा जाति), भाषायी समुदायों (तमिलनाडु में तमिल भाषी और गैर ब्राह्मण जातियाँ) और धर्म (पंजाब में सिक्ख धर्म और जाट जाति) के साथ जुड़ी हों वह यह क्षेत्रवाद को प्रबल बनाने में काफी सहायक होती है।

7. राजनीतिक कारण : राजनीतिक कारणों से भी प्रादेशिकता की मांग बढ़ी है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि यदि पृथक राज्य बन जायेंगे तो उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। प्रादेशिक दलों जैसे : डी0 एम0 के0, अकाली दल, झारखण्ड पार्टी, शिव सेना आदि ने भी राजनीतक कारणों से प्रादेशिकता की अग्नि प्रज्वलित की है।

23.2.2 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद : विश्लेषण

प्रो0 रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक "पॉलिटिक्स इन इण्डिया" में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा करते हुए लिखा है कि

(1) देश के सामने एक खतरा राज्यों के संघ से अलग हो जाने का था।

(2) कुछ लोगों ने आशंका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना या प्रदेश के लिए अधिक अधिकार या स्वायत्तता की मांग बढ़ती गयी तो इससे या तो देश अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बंट जाएगा या यहाँ तानाशाही कायम हो जाएगी।

(3) पृथकता की भावना उनमें ज्यादा बलवान और खतरनाक है, जहाँ ऐसी आर्येतर जातिया हैं, जो भारतीय संस्कृति की धारा में पूरी तरह नही मिल पायी हैं जैसे उत्तर-पूर्व की आदिम जातियों का इलाका

(4) कुछ क्षेत्रों में अभी भी असंतोष है। जैसे उत्तर पूर्व में मीजो जाति, बिहार में छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश में आदिवासी इलाके और गुजरात व उड़ीसा में आदिवासियों का स्वायत्तता आन्दोलन

(5) राज्यों के भीतर विशिष्ट क्षेत्रों के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे हैं। दबे हुए वर्गों ओर समूहों के राजनीतिक क्षेत्र में आने से अधिकार के लिए उनकी आकांक्षा से नयी समस्याएँ खड़ी हो रही हैं।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर की जा सकती है :

(1) क्षेत्रीयतावाद और पृथक राज्यों की मांग।

(2) क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर्राज्यीय झगड़े।

(3) क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग।

(4) क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र राज्य संबंध।

(5) क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में उत्तर और दक्षिण की भावनाएँ।

(6) क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में भाषावाद।

(7) क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति।

(8) क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय।

क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्य की मांग रही है। आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक राज्य की मांग समय समय पर उठायी गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलनों की शुरुआत की गयी। राज्यों का पुनर्गठन : सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषायी राज्यों की ही मांग थी।

बम्बई राज्य के विभाजन की मांग तीव्रतर होने लगी। यह मांग की जाने लगी कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्य को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई।

सन् 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया। परिणामत: पंजाब, हरियाणा एवं चण्डीगढ़ को संघीय बनाया गया। सितंबर 1968 में असम पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गयी थी। असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल दिसम्बर 1968 में पारित होकर कानून बन गया और असम राज्य के अन्तर्गत मेघालय का स्वायत्तशासी राज्य स्थापित हो गया। आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गयी। विकास रोजगार के अवसरों और शिक्षा विषयक

सुविधाओं के मामले में तेलंगाना क्षेत्र के लिए 1967 में पब्लिक एम्लायमेण्ट ऐक्ट में संरक्षणों की व्यवस्था की गयी।

तेलंगाना आन्दोलन को देखते हुए शंका व्यक्त की गयी कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागों में उपक्षेत्रीयतावाद की उदीयमान शक्तियों का संकेत देती प्रतीत होती है। भारत के विभिन्न भागों में क्षेत्रीयता के आधार पर पृथक राज्यों की मांग की जाती रही है।

क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं। राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी के पानी के विवादों को लेकर राज्य में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े हैं। मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर विवाद, तमिलनाडु व कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय झगड़े के मुख्य उदाहरण हैं, जिनमें कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया और संघवाद की भावना डगमगाती प्रतीत हुई।

कावेरी जल विवाद कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेश पांडिचेरी के बीच कावेरी नदी के पानी के बंटवारे पर एक लम्बे लगभग दो शताब्दियों से अधिक समय से विवाद चला आ रहा है।

क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गयी है, जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली है। विगत कुछ वर्षों से मांग की जाती रही है कि भारतीय संविधान के संघवाद से संबंधित प्रावधानों का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए। मांग की गयी है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। स्वायत्तता की मांग के साथ साथ यदाकदा पृथकतावादी नारे भी दिए जाते हैं। स्वायत्तता की यह मांग उन दिनों प्रबल हो जाती है जबकि केन्द्र एंव राज्यों में पृथक पृथक राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। पंजाब में मास्टर तारासिंह के नेतृत्त्व में अकाली दल द्वारा सिक्खों के स्वायत्त राज्य की मांग उठायी गयी थी। पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार बार राज्यों की स्वायत्तता की मांग दुहरायी है। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलों ने भी राज्य स्वायत्तता की मांग का समर्थन किया है।

क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र राज्य संघर्ष

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई है। राज्यों ने कई बार केन्द्र के सुझावों और निर्देशों को मानने से इंकार कर दिया और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व ने राज्यों का परिचय दिया हैं। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिए केन्द्र ने राज्यों को निर्देश दिए। केरल की वामपन्थी सरकार के मुख्यमंत्री ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इंकार कर दिया। सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिंतित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव ग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामलों में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्रोतों को प्राप्त करने के लिए भी राज्यों ने केन्द्र के विरुद्ध संघर्ष का रुख अपनाया।

भारत में उत्तर और दक्षिण के संदर्भ में सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती है। दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उनकी उपेक्षा की है। दक्षिण के चार राज्यों तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक में जहाँ द्रविड़ भाषा बोली जाती है, का विचार है कि राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारतीय की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिए थे। केन्द्रीय मन्त्रिमंडल, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाए हुए हैं।

क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में भाषावाद

स्वाधीनता के तुरन्त बाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा अल्पसंख्यकों का किस प्रकार संरक्षण किया जाए। संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ। दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा का विरोध करने लगे। वे इस स्थिति को पसन्द नहीं करते हैं। उनका कहना था कि हिन्दी इस स्थिति में नहीं है कि वह भारत की राजभाषा बन सके। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी।

भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी। मारिस जोन्स लिखते हैं कि दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किय। बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के अन्य भागों के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप में ही इसका विरोध किया।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की मांग : क्षेत्रीयतावाद के आन्दोलन को प्रबल बनाने में तमिलनांडु के द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल की प्रमुख भूमिका रही है। जून 1950 में द्रमुक ने मद्रास राज्य में पृथकतावादी आन्दोलन संगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। जगह जगह भारत के नकशे को जलाया गया। द्रमुक ने यहाँ तक कि मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल और मैसूर राज्यों को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक सम्प्रभु स्थान राज्य बनाया जाना चाहिए। मई 1962 में राज्यसभा में द्रमुक के नेता अन्नादुर ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालों से कई दृष्टि से भिन्न हैं और दक्षिण वालों की उपेक्षा की गयी है। इस प्रकार की विघटनकारी मांगों के फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में संविधान का 16वां संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गयी कि भारत की अखण्डता के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं कर सकेगा।

मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता से पूर्व खालिस्तान की मांग की थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारासिंह ने पृथक राज्य की मांग की। सन् 1950 से 1969 के बीच सिक्खों ने हिंसात्मक आन्दोलनों के माध्यम से पंजाबी सूबे की मांग की और 1 नवम्बर 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ।

सिक्खों के लिए पृथक राज्य खालिस्तान की मांग नई नहीं है। सिक्ख देश की मांग भारत की आजादी के दिनों से पहले की है। खालसा पन्थ का कहना है कि सिक्खों को धोखाधड़ी से भारतीय गणतन्त्र में शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था।

खालिस्तान की यह मांग आज (खासतौर से 1980-1993 की अवधि में) एकाएक चिन्ता का विषय इसलिए बन उठी है कि पहले समर्थन कुँछ मुंट्ठी भर उग्र तत्त्व करते थे, लेकिन अब प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके समर्थन में राजनीतिक दल तो आ ही गए, सिक्खों की वे संस्थाएँ भी अपने मंच का उपयोग इस प्रकार की गतिविधियों के लिए करने लगीं जो केवल गुरुद्वारों और शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्ध से ताल्लुक रखती थीं

आसाम में मिजो मांग : आसाम राज्य के मिजो पहले जिलों के नेता भारतीय संघ ने पृथक होने की लगातार मांग करते रहे हैं। वे एक स्वाधीन मिजो राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इस ध्येय की पूर्ति के लिए मिजो राष्ट्रीय फ्रण्ट की स्थापना की गयी।

आसाम में नागा आन्दोलन : आसाम में नागा जाति ने भी भारतीय संघ से अलग होने का आन्दोलन छेड़ा। फीजो के नेतृत्त्व में नागा राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गयी और हिंसात्मक संघर्ष की सक्रिय गतिविधियाँ प्रारंभ कर दी गयीं।

पृथक तेलंगाना आन्दोलन : 1960 के दशक में तेलंगाना को पृथक राज्य बनाने की मांग की गयी। तेलंगाना के लोगों का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित आर्थिक विकास नहीं हो रहा है। जनवरी 1969 से पृथक राज्य के लिए आन्दोलन प्रारंभ हुआ जिसका नेतृत्त्व डॉ0 चेन्ना रेड्डी एवं तेलंगाना प्रजा समिति जैसे संगठन ने किया।

1986 पं0 बंगाल के पहाड़ी क्षेत्र के लोगों ने स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग प्रस्तुत की।

स्वतन्त्र कश्मीर का सपना : हाल ही में कश्मीर में उग्रवादियों की गतिविधियों में वृद्धि हुई है। अधिकांश कश्मीरी कल्पना लोक में रहना चाहते हैं और उनमें यह धारणा बढ़ती जा रही है कि उग्रवादियों के प्रयासों और इस्लामाबाद की मदद से स्वतन्त्र कश्मीर की स्थापना संभव है।

पिछले कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का निर्माण एवं प्रभाव बढ़ता जा रहा है। लगभग सभी क्षेत्रीय दलों का उदय और विकास क्षेत्रीय के लिए उत्तरदायी अनेक कारणों के मिश्रण से ही होता है। तमिलनाडु में डी0 एम0 क0 और अन्ना डी0 एम0 के0 पंजाब के लिए उत्तरदायी अनेक कारणों के अकाली दल, जम्मू कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस, आन्ध्र प्रदेश में तेलुगुदेशम प्रधान क्षेत्रीय दल हैं। इसके अतिरिक्त नागालैंड, त्रिपुरा और कर्नाटक में भी क्षेत्रीय दलों का स्वर प्रबल होता जा रहा है।

23.2.3 दुष्परिणाम

क्षेत्रीयता की भावना जन जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा देश केवल भारत और पाकिस्तान में ही नहीं, अपितु एकाधिक क्षेत्रों में बंट गया है और प्रत्येक क्षेत्र में लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं। क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम इस प्रकार हैं :

(1) विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव : संकीर्ण क्षेत्रवाद का प्रथम दुष्परिणाम हमें भारत में देखने को मिलता है। वह यह है कि इसके विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

(2) राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के बीच संबंधों का विकृत होना : भारत में क्षेत्रीयता के कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के बीच का संबंध कभी कभी अत्यन्त कटु रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बड़े बड़े उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने अपने क्षेत्र के स्वार्थों को प्राथमिकता देते हैं और केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं।

(3) स्वार्थी नेतृत्त्व व संगठन का विकास : क्षेत्रीयता का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरूप अलग अलग क्षेत्र में कुछ इस प्रकार के नेतृत्त्व व संगठनों का विकास हो जाता है जो कि जनता की भावनाओं को उभारकर अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार के नेताओं व संगठन को न तो क्षेत्रीय हितों और न ही राष्ट्रीय हितों का तनिक भी ख्याल रहता है, उनका समस्त ख्याल तो अपनी लोकप्रियता को बढ़ाकर अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने पर केन्द्रित हो जाता है।

(4) भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना : क्षेत्रीयता का एक और बुरा प्रभाव यह होता है कि क्षेत्रीयता की वफादारी भाषा की समस्या को सुलझाने में सहायक होने के स्थान पर उसे और भी जटिल बनाने में मदद करती है। क्षेत्रीय वफादारी का सीधा संबंध क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा के प्रति विशेष कर उस क्षेत्र के लोग कर बैठते हैं।

(5) राष्ट्रीय एकता को चुनौती : संकीर्ण क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिए एक चुनौती बन जाती है। क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच जो तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह राष्ट्रीय एकता की समस्त धारणाओं और भावनाओं पर तुषारापात करती है। क्योंकि क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में कभी क्षेत्रीय स्वार्थों को लेकर, कभी राजनीतिक स्वशासन या पृथक राज्य के प्रश्न को लेकर तो कभी प्रादेशिक भाषा के प्रश्न को लेकर जो झगड़े या मनमुटाव खड़े जो जाते हैं वे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होते हैं।

23.2.4 रोकने का उपाय

राष्ट्रीय जीवन के लिए क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इस पर रोक लगाना ही उचित है। इस संबंध में निम्नलिखित उपायों को सुझाया जा सकता है।

(1) केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उप सांस्कृतिक क्षेत्रों का संतुलित आर्थिक विकास संभव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम हो।

(2) सभी क्षेत्र के लोगों को समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जाएं जिससे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्या की भावना न पनप सके।

(3) भाषा संबंधी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूंढ लिया जाए। इस संबंध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जाए।

(4) हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाए। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार कर लें।

(5) प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाए जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को अपना सकें।

(6) केन्द्रीय मंत्रिमंडल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का संतुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी संदेह न रहे।

(7) जहाँ तक संभव व व्यावहारिक हो उप सांस्कृतिक क्षेत्रों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति की जाए, यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।

(8) भारतीय संघ के राज्यों की संकीर्ण मानसिकता को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य संबंधों को इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि उनमें असंतोष न पैदा हो, वे मजबूत केन्द्र की आवश्यकता को समझें और केन्द्र को भी उनके सहयोग की अनिवार्यता की अनुभूति हो। इन दिनों केन्द्र राज्य संबंध भी चर्चा का विषय बना हुआ है। इस संबंध में सरकारिया आयोग का भी गठन किया गया था जिसने सन 1987 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस आयोग की सिफारिशों के माध्यम से केन्द्र राज्य संबंधों का पुनर्निर्धारण आर्थिक एवं अन्य संबंधों के परिप्रेक्ष्य में एक संतुलित नीति निर्धारित करने की ओर होना चाहिए।

23.2.5 मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन मानस में नवीन आकांक्षाएं उठने लगीं। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व, पंचवर्षीय योजनाएं आदि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता ही बढ़ती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता और हितों की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिलने लगा। असंतोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गों द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरुआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिज्ञों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे।

क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे। प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों में उम्मीदवार-मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदण्ड बनाया जाने लगा।

क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। क्षेत्रीय आन्दोलनों को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ में, क्षेत्रीयता की समस्या आज भारत की राष्ट्रीयता एकता के मार्ग में कण्टक बन गयी है। संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को समाप्त कर उदार सहयोगी प्रादेशिकता की भावना के प्रसार की आवश्यकता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण और लोकतान्त्रिक देश में क्षेत्रवाद और उपक्षेत्रवाद स्वाभाविक अवधारणाएँ हैं। पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित विकास की प्रक्रिया इसके विकास को

संगठित और सक्रिय रूप प्रदान करती हैं। यदि स्रोतों के बंटवारे, विकास की गति और विभिन्न समुदायों की आकांक्षाओं को कुछ सीमा तक नियन्त्रित किया जाए तो क्षेत्रवाद हानिकारक न होकर एक सामान्य संघीय प्रक्रिया तक ही सीमित रहता है और विभिन्न अल्पसंख्यकों और क्षेत्रीय वर्गों को राजनीति में भागीदारी की संतुष्टि दिलवाता है।

23.3 सारांश

क्षेत्र के प्रति लगाव एक सामाजिक प्रक्रिया एवं समाजशास्त्रीय अवधारणा भी है। किन्तु क्षेत्रीयतावाद एक राजनीतिक अवधारणा बन जाती है। इससे अलगाववाद की प्रवृत्ति जन्म लेती है। देश की एकता और अखण्डता को बनाये रखने के लिए क्षेत्रीयतावाद का अन्त होना बहुत आवश्यक है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के अनेक कारण बताये गये हैं।

(1) भौगोलिंक

(2) सांस्कृतिक

(3) ऐतिहासिक

(4) आर्थिक एवं राजनीतिक/भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद ी चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर की जा सकती है :

(1) क्षेत्रीयतावाद और पृथक राज्यों की मांग

(2) क्षेत्रीयतावाद एवं अन्तराज्यीय मांग

(3) क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग

(4) क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र राज्य संघर्ष

(5) क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में उत्तर और दक्षिण की भावनायें

(6) क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में भाषावाद

(7) क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से अलग होने की प्रवृत्ति

(8) क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय

क्षेत्रीयतावाद के बहुत दुष्परिणाम भी होते हैं। जैसे- स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास राष्ट्रीय एकता को चुनौती, भाषा की समस्या इत्यादि।

क्षेत्रीयतावाद को रोकने के अनेक उपाय किए जा सकते हैं। क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला।

23.4 कुंजी शब्द

(1) सांस्कृतिक

(2) स्वायत्तता

(3) अन्तर्राज्यीय

(4) क्षेत्रीय वफादारी

(5) अल्पसंख्यक

23.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की भूमिका पर प्रकाश डालें।
उत्तर- (23.0-23.2.)

(2) क्षेत्रीयतावाद के मुख्य कारण, विकास एवं रोकने की विधि की चर्चा करें।
उत्तर- (23.2-23.2.5)

(3) क्षेत्रीयतावाद की आलोचनात्मक विवेचना करें।
उत्तर- (23.1 -23.2.5)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

(4) क्षेत्रीयतावाद के कारण पर प्रकाश डालें।
उत्तर- (23.3.4)

(5) क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय बताएं।
उत्तर- (23.2.1)

23.6 अध्ययन हेतु प्रश्न

1. संविधान की रूप रेखा : डॉ0 पुरुषोत्तम मित्तल
2. लैंग्वेज एण्ड रीजन विदिन इण्डियन यूनियन : मारिस जोन्स
3. दि रीजनल डाइमेन्सन : डॉ0 रशीदउद्दीन खाँ

❖❖❖

भारत में दलीय व्यवस्था

पाठ संरचना

24.0 भूमिका

24.1 उद्देश्य

24.2 भारत में दल व्यवस्था

24.2.1 दलीय व्यवस्था की विशेषतायें

24.2.2 राजनीतिक दलों की समस्यायें

24.2.3 दलीय वर्गीकरण

24.2.4 प्रमुख राजनीतिक दल

24.3 सारांश

24.4 कुंजी शब्द

24.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

24.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

24.0 भूमिका

लोकतन्त्र के पहियों के रूप में राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल बहुत बड़ी सीमा तक हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। राजनीतिक शब्द का उच्चारण करते समय उसमें राजनीतिक दलों की ध्वनि झंकृत होती है। लोकतन्त्र चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यों न हो, राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में अकल्पनीय है, इसीलिए उन्हें लोकतन्त्र का प्राण कहा गया है। यदि राजनीतिक दलों को शासन का चतुर्थ अंग कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रो0 मुनरो के शब्दों में, लोकतन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है। विश्व के इतिहास में कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नहीं रही है जिसमें राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो। हूबर के शब्दों में, "प्रजातांत्रिक यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं। आज की प्रतिनिधिमूलक सरकार का सार यही है कि सरकार और संसद दोनों पर दल का प्रतिबन्ध रहता है। विधानमण्डल और कार्यपालिका, सरकार और संसद केवल संवैधानिक आवरण हैं। यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतक दल ही करते हैं।

24.1 उद्देश्य

दल प्रणाली के बिना लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली कार्य ही नहीं कर सकती है। शासन का चाहे संसदीय रूप हो या अध्यक्षात्मक, दल प्रणाली के अभाव में उसका क्रियान्वयन असंभव है। किसी भी शासन में हजारों लोग राज्य की समस्याओं पर सोचते हैं, किन्तु जब तक उनके विचारों और दृष्टिकोणों को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। वस्तुत राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ने, सरल करने तथा स्थिर बनाने का कार्य करते हैं। मैकाइवर के अनुसार, जिस राज्य में दल प्रणाली नहीं होती उसमें क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एकमात्र तरीका होती है। दल प्रणाली से क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती और संवैधानिक तरीके से शासन में परिवर्तन किया जा सकता है।

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की व्यवस्थित भीड़ के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं, जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को संचालन शक्ति प्रदान करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में, "दलों के बिना मतदाता ऐसी असंभव नीतियों का अनुसरण करने लगेंगे जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी, और जिससे राजनीतिक यन्त्र ध्वस्त हो जायेगा।"

24.2 भारत में दल व्यवस्था

भारत में स्वतन्त्रता आंदोलन के समय प्रभावकारी दलों के संगठन की आवश्कयता महसूस हुई। कांग्रेस एक विशेष अस्तित्व वाले संगठन के रूप में पैदा हुई जिसने देश में अंग्रेज विरोधी तत्त्वों को एकत्रित किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस दल ने एक राजनीतिक दल के रूप में कार्य करना प्रारंभ कर दिया, यद्यपि महात्मा गांधी चाहते थे कि यह केवल समाज सेवा संगठन के रूप में कार्य करे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की राजनीति में कांग्रेस दल की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि भारत का प्राय: एक प्रभुत्वशाली दलीय व्यवस्था के रूप में वर्णन किया गया। कांग्रेस आम जनता का सर्वप्रिय दल था । इसके योजना कार्य में सब कुछ सम्मिलित था। प्राय: इसको भारतीय समाज का स्वरूप माना जाता था जिसमें राष्ट्र के समस्त तत्त्वों का प्रतिबिम्ब था।

परन्तु इससे हमें गलत परिणामों पर नहीं पहुंचना चाहिए। कांग्रेस में ही विभिन्न तत्त्व विद्यमान थे जो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अलग अलग विचार रखते थे। कांग्रेस दल जो आन्दोलन दल से एक राजनीतिक दल में बदल गया था, चाहता तो सब विभिन्न तत्त्वों को अपने विशालतम संगठन में समा सकता था। इसके बाद कांग्रेस दल एक केन्द्रीय दल बन गया जिसमें वामपन्थी और दक्षिणपन्थी राजनीति साथ साथ शामिल थी। इसने दल में एक आन्तरिक शोधक रचना का गठन किया जिसमें कांग्रेस की बाहरी परिस्थितयों के अनुसार इनके भिन्न भिन्न दल एक दूसरे में घुल मिल सकते थे।

यह एक सत्य है कि भारत में कांग्रेस का प्रभाव सम्पूर्ण नहीं था। यद्यपि लोकसभा में कांग्रेस को भारी बहुमत प्राप्त था फिर भी कभी भी राष्ट्रीय चुनावों में इसे सार्वजनिक मतों का बहुमत नहीं मिला। दूसरी ओर विरोधी दलों को लोकसभा में यद्यपि कम स्थान थे, परन्तु उनके पीछे मतदाताओं की पर्याप्त शक्ति थी और राज्य स्तर पर कांग्रेस का प्रभाव और भी कम था।

भारत में विरोध विशेषत: सरकार का विरोध था। कांग्रेस दल सत्तारूढ़ दल था। अत: विरोध का अभिप्राय कांग्रेस के विरोध से था। विरोधी पक्ष का प्रयास मुख्यत: कांग्रेस की आलोचना करना तथा इसको सत्ता से हटाना था।

कांग्रेस दल का देशव्यापी शक्तिशाली संगठन सुदूरवर्ती गांवों तक फैला हुआ था। इसने स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेतृत्त्व की विरासत को स्वीकार किया। इसने क्षेत्रीय एवं वर्गीय हितों को एक साथ लिया। इसका कार्यक्रम पर्याप्त उदारवादी एवं लचीला था जिसके परिणामस्वरूप यह विभिन्न वर्गों की बढ़ती हुई आकांक्षाओं से उत्पन्न विभिन्न लोगों

को समायोजित कर सका। इसने कभी भी विचारधारा की दृष्टि से अतिवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। सभी हितों को कांग्रेस दल में समायोजित कर लिया गया था, इसलिए दूसरे दल उठ ही नहीं सके। कांग्रेस के कार्यक्रमों में देहाती एवं नगरीय हितों को शामिल किया गया, कुटीर उद्योगों तथा बड़े उद्योगों और इसमें कषि एवं औद्योगिक हितों को मिलाया गया और इसमें परंपरावादी एवं आधुनिक दोनों ही दृष्टिकोण शामिल हैं। असल में कांग्रेस दल ने सर्वसहमति एंव एकीकरण प्राप्त करने का मूलभूत कार्य किया।

भारत में कांग्रेस दल की एक विलक्षण विशेषता यह थी कि यह विभिन्न दृष्टिकोण का एक प्रकार से संविद बन गया था। इसमें आन्तरिक रूप से ही विरोधी दल उठ खड़ा हुआ। यद्यपि इसने एक दलीय प्रभुता की व्यवस्था की किन्तु फिर भी इसने सभी प्रजातान्त्रिक प्रयासों और संस्थाओं को अपनाया। ऐसी स्थिति में विरोधी दल की स्थापना के लिए कोई क्षेत्र नहीं था।

24.2.1 दलीय व्यवस्था की विशेषताएं

1947 से लेकर 1998 के काल में कम से कम पांच बार (1967, 1977, तथा 1990, 1993, 1998) ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत की दलीय व्यवस्था नवीन दिशा ग्रहण करने जा रही है, लेकिन पांचों ही बार ऐसा नहीं हो मापा और स्थिति में थोड़े बहुत परिवर्त्तन के बाद दलीय व्यवस्था अपने मूल स्वरूप पर आकर टिक गयी।

भारत की दलीय व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है:

1. बहुदलीय पद्धति : भारत में ब्रिटेन तथा अमरीका की तरह द्वि-दल पद्धति नहीं, वरन बहुदलीय पद्धति है, लोकसभा में लगभग 15 और विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं में कुल मिलाकर 30 से अधिक राजनीतिक दल हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर अन्य के पास कोई नीति अथवा कार्यक्रम नहीं है या उनके पास साधनों का अभाव है।

2. चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व मॉरिस जोन्स ने भारत की दलीय पद्धति को एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति की संज्ञा दी थी और 1967 से 1970 के समय को छोड़कर भारतीय राजनीति की सामान्यत: यही प्रवृत्ति रही है। बहुदलीय पद्धति में सामान्यत: राजनीतिक शक्ति का बिखराव हो जाता है और कोई भी एक राजनीतिक दल इस स्थिति मे नहीं होता कि वह अपने ही बलबूते पर सरकार का निर्माण कर सके। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों के बाद स्थिति में व्यापक परिवर्तन आया और एक दल की प्रधानता के युग का अन्त हुआ। केन्द्र में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

3. दलीय राजनीति, वैयक्तिक नेतृत्व पर आधारित : दलीय राजनीति वैयक्तिक नेतृत्व पर आधारित है और व्यक्तियों के आधार पर दलों के बिगड़ने का क्रम चलता रहता है। भारतीय राजनीति के सर्वप्रमुख दल या शासक दल में सामान्यत: एक ही व्यक्ति को सर्वोच्चता की स्थिति प्राप्त रही है। 1951 से 1964 के मध्य तक श्री नेहरू को यह स्थिति प्राप्त थी और बाद में 1970-76 के काल में तथा पुन: 1980 के प्रारम्भ में श्रीमती गांधी द्वारा इस स्थिति को प्राप्त कर लिया गया। दिसम्बर 1984 में चुनावों के बाद राजीव गांधी की प्रभावक भूमिका उभरी।

4. राजनीतिक दलों में विभाजन, विघटन और अस्थायित्व की प्रवृत्ति : भारत के सभी राजनीतिक द निरन्तर विभाजन, विघटन, बिखराव और अस्थायित्व की प्रवृत्ति के शिकार रहे हैं। सर्वप्रमुख दल भारतीय राष्ट्री कांग्रेस अब दो बार विभाजित हो चुका है। 1969 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन हुआ और 1978 सत्ता कांग्रेस का। 1977 में गठित जनता पार्टी, 1980 के मध्य तक चार पार्टियों में बंट गई- जनता पार्टी (जे0पी0 भारतीय जनता पार्टी, जनता एस (चरण सिंह) और जनता एस(राजनारायण)। इस प्रकार चार साम्यवादी दल हैं, जिन दो भली प्रकार संगठित हैं। जनता दल के विभाजन से 1990 में जनता(एस) बना और अजीत सिंह गुट के अल हो जाने से उसका और अधिक विभाजन हो गया।

5. विभाजित विपक्ष : 1967-70, 1977-79 और 1989-92 के काल को छोड़कर भारतीय राजनीति

सामान्यत: कमजोर और विभाजित विपक्ष की स्थिति ही रही। मोरिस जोन्स ने इस स्थिति की विवेचना करते हुए लिखा था कि विरोधी दलों में टूट फूट का कारण यह है कि उनमें आपस में सामाजिक सहयोग कम है और दलों के अग्रगामी नेता बिना शक्ति के भी अपनी छोटी-मोटी टुकड़ियों के नेता बने रहता चाहते हैं और एक बड़े समूह में नहीं मिलना चाहते हैं।

6. अवसरवादिता की उभरती प्रवृत्ति : भारतीय राजनीति में अवसरवादिता सदैव से विद्यमान रही है और अभी हाल ही के वर्षों में यह निरन्तर उग्र रूप ग्रहण कर रही है। रजनी कोठारी के अनुसार, व्यक्ति को महत्त्व अभी भी राजनीति से बहुत है। भारत में एक ही संगठन के अभिन्न अंग अलग अलग काम करते हैं। एक ही दल के राष्ट्रीय और राज्य शाखाएँ प्रतिकूल दिशाओं में चलती हैं और ऐसे गुटों व तत्त्वों से हाथ मिलती हैं जो विचारधारा और नीति में उनसे भिन्न हैं।

7. राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रम में स्पष्ट भेद का अभाव : भारत के राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव है। अभाव इसी कारण कि वे जनता के सम्मुख स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। इस प्रकार के विचार भेद के अभाव का एक कारण यह है कि आज भारत के राजनीतिक रंगमंच पर जितने भी पात्र दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबको राजनीतिक प्रशिक्षण राष्ट्रीय आन्दोलन में ही प्राप्त हुआ है।

8. साम्प्रदायिकता और क्षेत्रीय दल : भारत में अनेक राजनीतिक दल साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय आधार पर गठित हैं। ऐसे दलों में अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, अकाली दल, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, नेशनल कांग्रेस, असम गण परिषद, सिक्किम संग्राम परिषद और अन्य अनेक दलों का नाम लिया जा सकता है। नागालैण्ड, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश में तो नागालैण्ड लोकतान्त्रिक दल और मणिपुर पीपुल्स पार्टी आदि ही प्रभावशाली हैं और अखिल भारतीय दलों का प्रभाव लगभग नगण्य है।

9. राजनीतिक दलों की आन्तरिक गुटबन्दी : भारत की दल प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता विभिन्न दलों की आन्तरिक गुटबन्दी है। लगभग सभी राजनीतिक दलों में छोटे छोटे गुट पाये जाते हैं, एक वह गुट जो सत्ता में है और दूसरा असन्तुष्ट गुट। इन गुटों में पारस्परिक मतभेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी कभी निर्वाचन में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवार को दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। दल में आन्तरिक गुटबन्दी कांग्रेस दल में सबसे ज्यादा पायी जाती है क्योंकि इसमें सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष चलता रहा है जिसका प्रभाव संपूर्ण दल की प्रगति पर पड़ता है।

10. राजनीतिक दल बदल : भारत में दल बदल की स्थिति सदैव से विद्यमान रही है लेकिन 1967 से 1970 के वर्षों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक भीषण रूप में देखी गयी। पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश आदि राज्यों में विशेष रूप से यह प्रवृत्ति देखी गयी कि एक राजनीतिक दल के सदस्य के रूप में निर्वाचित विधानसभा के सदस्यों द्वारा अपने निर्वाचकों की अनुमति प्राप्त किये बिना ही विधानसभा में अपने राजनीतिक दलों की सदस्यता में परिवर्तन कर लिया गया। (1990-92) दल बदल की घटनाओं के कारण बड़े चर्चित रहे हैं। दल बदल राजनीतिक अस्थिरता का कारण और परिणाम दोनों ही रहा है और इसने राजनीतिक वातावरण को दूषित करने का ही कार्य किया है।

24.2.2 भारत में राजनीतिक दलों की समस्यायें

भारत में राजनीतिक दलों के सामने बहुत सी समस्याएँ हैं। उनमें से मुख्य संगठनात्मक, वित्तीय अनुशासनहीनता की समस्याएँ।

(1) संगठनात्मक समस्याएँ : देश में सामाजिक व्यवस्था की निहित रूपरेखा दल व्यवस्था की समस्याओं को बहुत अधिक बढ़ा देती है। भारत एक परंपरागत स्तरित सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। धर्म, जाति तथा

अन्य कई सांस्कृतिक कारण लोगों के दिमागों पर आधिपत्य जमाये हुए हैं तथा पूर्णत: विशुद्ध सैद्धान्तिक राजनीति इस संदर्भ में कुछ कठिन है। पूर्णत: धर्मनिरपेक्ष संगठन को चलाना और भी अधिक कठिन है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की एक व्यापक विशेषता गुटबन्दी है जो दलों में भी तीन दशकों में प्रमुख विभाजन हो गये। साम्यवादी दल भी तीन है- भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी साम्यवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी लेनिनवादी) जो भारतीय साम्यवादी दल में गुट संबंधी राजनीति से पैदा हुए। अकाली दल और द्रविड़ मुनेत्र कड़गम जैसे प्रादेशिक दल भी विभाजित हो चुके हैं। इस प्रकार गुटबन्दी सभी राजनीतिक दलों में प्रचलित है तथा पूर्णत: बिना सैद्धान्तिक आधार के केवल व्यक्तिगत मतभेद ही विभिन्न दलों का नेतृत्त्व करते हैं।

(2) दल बदल . भारत में दल बदल एक सामान्य सी बात है। दल बदल देश में राजनीतिक स्थिरता को क्षति पहुंचाने के साथ साथ प्रशासन तथा संसदीय संस्थाओं में लोगों के विश्वास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यह दल बदल 1967 से 1968 तक लगभग 16 सरकारों के पतन के लिए उत्तरदायी है। दल बदल स्वरूप प्रणाली के विकास में एक बाधा है।

(3) वित्त साधन : भारत में राजनीतिक दल सामान्यत: अपनी वित्तीय लेखा जोखा, यहां तक कि सदस्य तथा कोष संचालन के साधनों से प्राप्त धन का ब्योरा भी नहीं छापते।

व्यावहारिक रूप से सभी राजनीतिक दलों की आय का सामान्य स्रोत संसद तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों पर लगाया गया चन्दा है। सभी राजनीतिक दलों की आय के मुख्य स्रोत दान थैलियां तथा कोष संचालन भी है। 1956 के कंपनी अधिनियम ने पहली बार राजनीतिक चन्दों के साथ तथा अन्य कोषों के योगदान को सीमित कर दिया। कम्पनी अधिनियम ने पहली बार राजनीतिक चन्दों के साथ के दान तथा अन्य कोषों के योगदान को सीमित कर दिया। कम्पनियों द्वारा राजनीतिक दलों को दान देने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक विधेयक 1968 में पारित किया गया परन्तु राजनीतिक दलों के वित्त साधनों की गति लगातार पूर्ववत चलती रही। आय का एक क्रम विवादास्पद तरीका दल के नेताओं को प्राप्त थैलियां हैं। ये स्थानीय दल कार्यकर्त्ताओं द्वारा जनता तथा व्यापारी लोगों से सामान्यत: एकत्र की जाती हैं तथा अक्सर चुनावों के समय नेताओं को भेंट कर की जाती है।

(4) नेतृत्त्व का संकट : राजनीतिक दलों में नेतृत्त्व का संकट पाया जाता है। प्रखर और नेतृत्त्व का अभाव है। राजनीति को हमारे नेताओं ने एक गन्दा खेल बना दिया है। उनमें राजनीतिक अवसरवादिता देखने को मिलती है।

(5) काले धन का प्रभाव : चुनाव बहुत खर्चीले हो जाने से वास्तविक जनसेवी चुनाव मैदान में उतरने से कतराते हैं। दलों को पूंजीपतियों और कम्पनियों से आर्थिक सहायता मिलती रही है। जो लोग धन देते हैं, वे बदले में अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने यह कहा था कि "एक व्यक्ति चुनाव में लाखों रुपये खर्च करने के बाद ईमानदार हरगिज नहीं रह सकता।" यह एक ऐसा कटु सत्य है जो हमारी राजनीतिक व्यवस्था के खोखलेपन को प्रकट करता है।

(6) जातिवाद और साम्प्रदायिकता : जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे जीवन मूल्य हमें विरसात में मिले हैं, जिनके कारण हर दल को इन तत्त्वों के साथ समझौता करना पड़ता है। योग्य उम्मीदवारों की बजाय उन्हें ऐसे लोगों को चुनावी टिकट देने पड़ते हैं जिनकी जाति वालों का उन चुनावी के क्षेत्र में बाहुल्य हो।

(7) भारत में सह-अस्तित्व की संस्कृति का अभाव है : विधानमण्डल में जब दलों की संख्या अधिक हो जाती है तो कभी कभी मिले जुले मन्त्रिमंडल का गठन करना पड़ता है। मिली जुली सरकारें तभी ठीक प्रकार चल सकती हैं जबकि विभिन्न घटकों के बीच परस्पर विश्वास हो। भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि हमारे नेता नीतियों के कारण नहीं, व्यक्तिगत आधारों पर आपस में लड़ते झगड़ते रहते हैं।

संक्षेप में, देश को सुस्पष्ट विचारधाराओं पर आधारित दो या तीन अखिल भारतीय दलों की आवश्यकता है।

24.2.3 दलीय वर्गीकरण

भारतीय राजनीतिक दलों को चार भागों में बांटा जा सकता है :

(1) राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल

(2) क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल

(3) स्थानीय किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल और

(4) तदर्थ दल।

(1) राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल : राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय दल वे हैं जिनकी संसद तथा लोकसभा एवं राज्य विधानमण्डलों में पर्याप्त सदस्य संख्या है तथा जिनको पर्याप्त मत प्राप्त हुए हैं। ऐसे दल दो प्रकार के हैं। बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल। बिना विचारधारा वाले दलों में कांग्रेस और संगठन कांग्रेस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्राय है, किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना। दोनों कांग्रेस दलों को वैचारिक दृष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है। कांग्रेस एक ऐसा दल है जिसमें अनेक विचारधारा और हितों के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। इसे दल के बजाय एक सार्वजनिक मंच (प्लेटफार्म) कहा जा सकता है।

विचारधारा में विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलों को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है- दक्षिणपन्थी और वामपन्थी। दक्षिणपन्थी दल जहाँ यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं वहाँ वामपन्थी दल आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आमूल परिवर्त्तन चाहते हैं। स्वतन्त्र दल, जनसंघ और भारतीय लोकदल, भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके दृष्टिकोण ब्रिटिश अनुदारवादी दल से मिलते जुलते हैं। वामपन्थी दल भी दो प्रकार के हैं- उदार और उग्र। उदार दलों में सभी समाजवादी दलों को लिया जा सकता है तथा उग्र दलों में सभी प्रकार के साम्यवादी दलों को स्थान दिया जा सकता है। उदारवादी दल, गांधीवाद, मार्क्सवाद और फेबियनवादी सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं जबकि साम्यवादी दल क्रान्तिकारी साधनों में विश्वास करते हैं। समस्त प्रकार के अखिल भारतीय दलों का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है, उनकी सदस्यता सभी धर्मों और जातियों के लिए खुली है।

(2) क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल : ये वे दल हैं जिनका प्रभाव सभी राज्य की सीमा तक ही है। इनमें तेलगु देशम, डी0 एम0 के0, अन्ना डी0 एम0 के0, गण परिषद, सिक्किम संग्राम परिषद आदि प्रमुख हैं। आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, असम, सिक्किम आदि राज्यों में ये दल प्रभावशाली हैं।

(3) स्थानीय किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल : कतिपय दल विशेष जाति या सम्प्रदाय तक ही सीमित हैं। केरल की मुस्लिम लीग, पंजाब का अकाली दल तथा बिहार की झारखण्ड पार्टी ऐसे ही दल हैं।

(4) तदर्थ दल : भारत में ऐसे भी अनेक दल हैं जो बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हें छोटे छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलों में केरल कांग्रेस, बंगाल कांग्रेस, हरियाणा कांग्रेस, जनता पार्टी, रामराज्य परिषद, लोकतान्त्रिक दल आदि को याद किया जा सकता है। ऐसे दल कब बन जाते और कब अस्त हो जाते हैं, इसका पता लगाना कठिन है। ये विभिन्न दलों से निकले असन्तुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित गुट हैं।

24.2.4 प्रमुख राजनीतिक दल

21 फरवरी 1992 को निर्वाचन आयोग द्वारा की गई एक घोषणा के अनुसार निम्नलिखित 6 दलों को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता दी गई है :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	कांग्रेस
भारतीय जनता पार्टी	भाजपा
भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी	कम्यु

भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी (मार्क्सवादी)	माकम्यु
जनता दल	जद
जनता पार्टी	जपा

इस प्रकार इन व्याख्यानों के आधार पर हम दलीय पद्धति की विशेषताओं को इस प्रकार लिख सकते हैं:

(1) सर्वप्रथम भारत के राजनीतिक दलों का जन्म राष्ट्रीय आंदोलन के परिणामस्वरूप हुआ। यह संविधान के क्रमिक विकास का परिणाम है, इसने अचानक जन्म नहीं लिया।

(2) भारतीय इतिहास को गौर करने पर यह पता चलता है कि भारत में सिर्फ एक ही कांग्रेस दल का अधिपत्य रहा जिससे यह प्रतीत होता है कि एक दलीय प्रणाली है और जिसके कारण केन्द्र की प्रभुता हमेशा राज्यों में बनी रही, परन्तु यद्यपि यहां है तथापि इतिहास इस बात को स्पष्ट करता है कि भारत की शासन प्रणाली मात्र कांग्रेस की नीतियों से ही प्रभावित है।

(3) दलों का संगठन उतना सुदृढ़ नहीं है, ना ही उनका कोई स्पष्ट चुनाव होता है।

(4) दलों के संगन का आधार सम्प्रदाय, धर्मनिरपेक्ष, जाति इत्यादि होता हे।

(5) यहाँ हमेशा क अल्पसंख्यक दल' भी रहता है। हमारे अनुभव भारत की दलीय पद्धति के साथ उतने सुखदायीं नहीं हैं। परन्तु यह सत्य है कि दलीय पद्धति हमारे राजनीतिक जीवन का प्रमुख अंग रही है। ये राजनीतिक स्थिति का दर्शन कराते हैं तथा प्रजातांत्रिक प्रणाली में परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं।

(1) भारत में अनेक प्रकार की पार्टियां विद्यमान हैं, जिनसे यह पता चलता है कि भारत में बहुदलीय शासन प्रणाली है। सर्वप्रथम एक सर्वप्रमुख कांग्रेस की सरकार है। किसी भी पार्टी को एक राष्ट्रीय स्तर की पार्टी बनाने के लिए 4 राज्यों में कम से कम 4 प्रतिशत वोटों को प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसे शासन का कार्यभार सौंपा गया तथा कांग्रेस ने लगभग दो दशक तक शासन किया। 1960 के खत्म होने तक सर्वप्रथम इसका विभाजन हुआ। कांग्रेस की स्थापना के इतिहास को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं, परन्तु यह विभाजन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व का है। सन् 1985 से 1907 तक कांग्रेस पश्चिमी देशों में शिक्षा प्राप्त नेताओं जैसे नैरोजी, गोखले तथा मेहता इत्यादि से प्रभावित रहा। इस अवधि में कांग्रेस की नीतियां ब्रिटिश सरकार के पक्ष में रहीं तथा इनका एक ही उद्देश्य था कि भारतीयों को ब्रिटिश शासन में प्रतिनिधित्व प्रदान कराना।

(2) सन 1909 से 1919 तक कांग्रेस का विभाजन दो भागों में हो गया था, जिसके नेता बाल, पाल और लाल थे। इस अवधि में इनका उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना तथा स्वराज्य की स्थापना करना था।

(3) सन 1919 से 1947 तक महात्म गांधी का प्रभुत्व रहा। इस समय मुख्य उद्देश्य स्वतन्त्रता प्राप्ति थी। गाँध ी जी की मृत्यु के बाद नेहरू एक मुख्य नेता के रूप में उभर कर सामने आए और पटेल की मृत्यु के बाद नेहरू की स्थिति और मजबूत हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्तिं के बाद प्रथम भाग (सन 1947 से 51 तक की अवधि) विवाद की स्थिति से गुजरी। यह समय टंडन विवाद से गुजरा जब पंडित नेहरू ने श्री पुरूषोत्तम दास टंडन को बाध्य कर दिया त्याग पत्र देने को। द्वितीय भाग में केन्द्रीयकरण की क्रिया को अपनाया गया। नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष तथा देश के प्रधानमंत्री के अधिकारों को एक साथ मिलाना चाहते थे। मतलब दोनों ही पदों का भार एक व्यक्ति को मिलाने की बात उन्होंने चलाई। सन 1954-63 तक कांग्रेस में अनेक नवयुवक प्रमुख नेता बनकर उभरे। सन 1963-67 तक तृतीय चरण में अनेक बड़े नेताओं को अवकाश प्राप्त करने का अनुच्छेद लिखाएगा। यह प्रावधान कामराज योजना के अन्तर्गत था। श्री शास्त्री जी की मृत्यु के बाद श्रीमती गांधी भारत की प्रधानमंत्री थीं और आपस के विवाद के परिणामस्वरूप सन 1969 में कांग्रेस का विभाजन हो गया। श्री जगजीवन राम तथा श्रीमती गांधी दो प्रमुख नेता बनकर उभरे। सन 1977 में जनता

पार्टी एक वृहद पार्टी के रूप में उभरी और उसने कांग्रेस की शासन सत्ता की जड़ें हिला दीं। परन्तु पुनः उनकी असफलता से सन् 1980 ई0 में श्रीमती गांधी को विजय दो तिहाई बहुमत से हुई। सन 1989 ई0 तक कांग्रेस ही शासन में रही, परन्तु सन् 1989 में पुनः जनता दल की सरकार बनी। परन्तु पुनः उनकी असफलता से कांग्रेस की सरकार अगले चुनाव 1991 में बनी और श्री नरसिम्हा राव प्रधानमंत्री बने।

कांग्रेस चूंकि शुरू से ही एक मजबूत पार्टी रही है, इसलिए इसके सभी कार्यक्रम सुनिश्चित तथा संगठित रहे। कांग्रेस का सर्वप्रथम लक्ष्य यह है कि किसी प्रकार राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करना। कांग्रेस ने हमेशा भारत के राष्ट्रीय गौरव तथा एकता की रक्षा करने वाली नीतियों का ही अनुसरण किया। इनकी नीतियाँ एक कल्याणकारी समाज की स्थापना करती हैं। परन्तु कल्याणकारी समाज की स्थापना के लिए समाजवादी विचाराधाराओं का होना अत्यंत आवश्यक है। सन 1956 ई0 में अवार्डी सेशन में वार्षिक सभा का आयोजन किया गया और इसमें समाजवादी सिद्धांतों को ग्रहण करने का प्रावधान किया गया। इस प्रकार कांग्रेस की आर्थिक नीति का आधार रहा। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस की नीतियों में अदभुत परिवर्त्तन आए। कांग्रेस की नीतियों पर अधिक प्रभाव पूर्वी राज्यों का ही पड़ा है। इसी कारण नेताओं का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार को समाप्त करना है। इसी कारण संपत्ति के विशेषाधिकार को समाप्त कर हमेशा गरीबी हटाओ का प्रावधान किया गया। जब 1980 में श्रीमती गांधी तिहाई बहुमत से विजयी होकर प्रधानमंत्री बनीं तो उनका एक ही उद्देश्य था कि किसी प्रकार एकस्थायी तथा विकासशील सरकार की स्थापना की जा सके। श्री राजीव गांधी की अध्यक्षता में दल का सर्वप्रमुख कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी साधनों का विकास करना रहा। वर्त्तमान समय में पुनः कांग्रेस की नीतियों में परिवर्त्तन लाया गया जब नरसिम्हा राव की सरकार ने उदारीकरण की नीति अपनाई। इस प्रकार यह राष्ट्रीय दल राष्ट्र एकता एवं अखण्डता को मजबूती प्रदान करने के लिए अथक प्रयत्नशील रही है।

जनता पार्टी : सन् 1972 में सभी विपक्षी दलों ने मिलकर एक संगठन बनाया तथा सन 1977 ई0 में उन्हें एक अदभुत विजय प्राप्त हुई। सन 1976 ई0 में इन सभी दलों ने मिलकर आपातकालीन स्थिति में एक कार्यक्रम तैयार किया। इस प्रकार जब 1977 ई0 में चुनाव कराए गए तो दल श्री मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में एक मजबूत पार्टी बनकर सत्तारूढ़ हुई। इस दल में जनसंघ, भारतीय लोक दल, कांग्रेस (ई0), समाजवादी पार्टी तथा स्वतन्त्र कांग्रेस शामिल थे। इस पार्टी के प्रमुख उद्देश्य लोगों को प्रजातांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा करनी थी। इन दलों ने राजनीतिक आर्थिक अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की भी मांग की। परन्तु प्रमुखता कृषि तथा ग्रामीण पुनर्निर्माण को ही दी गई। आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए इन्होंने सभापति के अधिकारों को समाप्त करने की चेष्टा की। परन्तु सन 1980 में इसने अपना समर्थन खो दिया तथा नए चुनाव कराए गए।

कम्युनिष्ट पार्टी : कम्युनिष्ट पार्टी का जन्म स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व हुआ था, परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् पार्टी के आदेशों में परिवर्त्तन आया। इस पार्टी के सिद्धांत पूर्वी, पश्चिमी तथा मार्क्सवादी या नए मार्कसवादी विचारधाराओं पर आधारित हैं। यह पूर्वी सभ्यता की तरह, मजदूर वर्ग, सर्वहारा वर्ग से संबंधित है, तथा मजदूरों किसानों तथा की स्थिति में सुधार हेतु प्रयत्नशील है। परन्तु ये पश्चिमी सभ्यता के सिद्धांतों की तरह आराजकतावाद पर आधारित है। मार्क्सवादी सिद्धांत पर आधारित यह प्रश्चिमी तथा पूर्वी दोनों सभ्यताओं का समावेश करता है। सन 1964 ई0 में एक नई पार्टी का जन्म हुआ। केरल, आंध्र प्रदेश, बिहार तथा पश्चिम बंगाल में उनकी स्थिति अत्यंत ही मजबूत है।

अकाली दल : सिक्ख समुदाय की सबसे महत्त्वपूर्ण पार्टी अकाली दल ही है। यह एक क्षेत्रीय पार्टी है क्योंकि इसकी सीमा सिर्फ पंजाब की भूमि तक ही सीमित रह गई है। इस पार्टी का भी जन्म स्वतन्त्रता के पूर्व ही हुआ, परन्तु इसका प्रमुख उद्देश्य राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्ततां प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त इस दल की प्रधानता बंगाल, कश्मीर, तमिलनाडु तथा बिहार में प्राप्त है।

जनता दल : देश के सभी विपक्षी दलों ने पुनः सन 1989 ई0 में एकजुट होकर एक दल का निर्माण किया

जिसकी अध्यक्षता श्री वी0 पी0 सिंह ने की। उसका नाम जनता दल पड़ा। इस दल में विभिन्न पार्टियां थीं- समाजवादी जनता पार्टी, लोक दल, इत्यादि। पार्टी ने जब चुनाव में बहुमत प्राप्त किया तथा सत्तारूढ़ हुई तो आरक्षण को लेकर विवाद हुआ और फलस्वरूप पार्टी की स्थिति संसद में कमजोर पड़ गई और इस प्रकार पुनः कांग्रेस का आगमन हुआ। इस पार्टी के प्रमुख उद्देश्य पिछड़ी स्थिति को मजबूत बनाना है।

भारतीय जनता पार्टी : केन्द्रीय कार्य समिति द्वारा दोहरी सदस्यता को अस्वीकार कर दिये जाने पर श्री लालकृष्ण आडवाणी द्वारा दिल्ली में 6 अप्रैल, 1980 को जनता पार्टी के सदस्यों का एक दो दिवसीय सम्मेलन बुलाया गया था, जो दोहरी सदस्यता के प्रश्न को एक सही मुद्दा नहीं मानते थे। इस सम्मेलन में लगभग 4,000 प्रतिनिधि शामिल हुए। सम्मेलन में भूतपूर्व जनसंघ दल को पुनर्जीवित करने के स्थान पर एक नये दल भारतीय जनता पार्टी की स्थापना की गयी। श्री अटल बिंहारी वाजपेयी को इस नवीन दल का अध्यक्ष और श्री लालकृष्ण आडवाणी, सिकन्दर बख्त तथा मुरली मनोहर जोशी को दल का महासचित नियुक्त किया गया। भूतपूर्व जनसंघ के दल से संबद्ध जनता पार्टी सदस्य तो इसमें शामित हुए ही, इसके साथ ही सिकन्दर बख्त, राम जेठमलानी, शान्तिभूषण और के0 एस0 हेगड़े जैसे व्यक्ति जिनका जनसंघ या राष्ट्रीर्य स्वंय सेवक संघ से कोई संबंध नहीं रहा, भी इस पार्टी में शामिल हुए। पार्टी ने जयप्रकाश नारायण की संपूर्ण क्रांति तथा गांधीवादी अर्थदृष्टि को अपना आदर्श बनाया और 6 मई, 1980 को जारी किये गये अपनी आधारभुत नीति वक्तव्य में पार्टी को 5 निष्ठाओं से प्रसिद्ध किया। ये निष्ठाएं हैं : राष्ट्रवाद और समन्वय, लोकतन्त्र, प्रभावकारी धर्मनिरपेक्षता, गांधीवादी समाजवादी और सिद्धांतों पर आधारित साफ सुथरी राजनीति। आंध्र प्रदेश का तेलगु देशम बिहार में राष्ट्रीय जनता दल। इसके अतिरिक्त भी कई ऐसी पार्टियों जिनका उद्देश्य हिन्दू धर्म का प्रचार करना है, कार्य कर रही हैं। सरकार इन पार्टियों को तभी एक पार्टी के रूप में स्वीकार करती, जब ये पार्टियां राष्ट्र एकता तथा अखंडता के विकास के लिए कार्य करतीं। परन्तु यदि ये इस उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं करतीं तो सरकार उनको नहीं स्वीकार करती है। इसी कारण सरकार ने अभी पांच पार्टियों को अस्वीकृत कर दिया है।

24.3 सारांश

राजनीतिक दल उसे कहते हैं जिसमें व्यक्तियों का एक समूह जो संगठित होता है जिसका उद्देश्य समान लक्ष्य की प्राप्ति करना होता है तथा जिसका सर्वप्रथम कार्य सरकार को नियंत्रित करना है। 19वीं शताब्दी में पार्टियों का जन्म हुआ। दल प्रणाली के बिना लोक तन्त्रात्मक शासन प्रणाली कार्य नहीं कर सकती। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक आन्दोलन के रूप में उभरा किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात एक दलीय व्यवस्था बन गया। 1947 से 1999 के काल में पांच बार ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत में दलीब व्यवस्था नवीन दिशा ग्रहण करने जा रही है लेकिन ऐसा हुआ नहीं। दलीय व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें बहुदलीय पद्धति, एक राजनीतिक दल का बर्चस्व, दलीय राजनीति, व्यक्तिगत नेतृत्व पर आधारित राजनीतिक दलों में विभाजन, विघटन, विभाजित विपक्ष, अवसरवादिता की प्रवृत्ति, राजनीतिक दलों में नीतियों में भेद का आभास, सांप्रदायिक एवं क्षेत्रीय दलों का उदय, राजनीतिक दलों में आन्तरिक गुटबन्दी, राजनीतिक दल-बदल, निर्दलीय सदस्यों की संख्या में कमी। भारतीय राजनीतिक दलों को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

(1) राष्ट्रीय एवं धर्म निरपेक्ष दल

(2) राज्यस्तरीय और क्षेत्रीय दल

(3) स्थानीय किन्तु जातीय, साम्प्रदायिक दल

(4) तदर्थ दल

21 फरवरी 1992 के निर्वाचन आयोग द्वारा दी गयी घोषणा के अनुसार निम्नलिखित 6 दलों को राष्ट्रीय दल की मान्यता दी गयी है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, कम्युनिष्ट पार्टी (मार्क्सवादी), जनता दल और

जनता पार्टी।

24.4 कुंजी शब्द

1. एकीकरण
2. संविद सरकार
3. बहुदलीय पद्धति
4. अवसरवादिता

24.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
   उत्तर- (24.0 - 24.2.2)
2. भारतीय दलीय व्यवस्था का वर्गीकरण एवं कार्यों की विवेचना करें।
   उत्तर- (24.0 - 24.2.4)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

3. टिप्पणी दें
   (क) बहुदलीय पद्धति
   (ख) क्षेत्रीय दल
   (ग) आन्तरिक गुटबन्दी

24.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. भारतीय शासन एवं राजनीति : सुशीला कौशिक
2. भारतीय शासन की रूप रेखा : पन्ना लाल श्रीवास्तव
3. भारतीय शासन और राजनीति : ए0 एस0 नारंग

❖❖❖

भारतीय राजनीति में दबाव समूह

पाठ संरचना

25.0 भूमिका

25.1 उद्देश्य

25.2 विशेषतायें

25.2.1 दबाव समूह का जन्म

25.2.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

25.2.3 दबाव समूह के प्रकार

25.2.4 दबाव समूह का महत्त्व

25.2.5 आलोचना

25.2.6 निष्कर्ष

25.3 सारांश

25.4 कुंजी शब्द

25.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

25.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

25.0 भूमिका

"दबाव समूह" को विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। हित समूह गैर सरकारी संगठन लॉबीज अनोपचारिक संगठन गुट इत्यादि शब्दों का प्रयोग दबाव गुटों के लिए किया जाता रहा है। दबाव समूहों तथा अन्य संगठन में अन्तर अवश्य है। सभी संगठन दबाव समूह नहीं होते और न हित समूह होते हैं, किन्तु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो "दबाव समूह" बन जाते हैं। व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका संबंध विशेष मामलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते, न ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

प्रो0 मदन गोपाल गुप्ता के अनुसार "दबाव समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले

व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासकीय और विधायी दोनों ही प्रकार के निर्णयकर्त्ताओं को सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहता है, तो वह दबाव समूह कहलायेगा।

25.1 उद्देश्य

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशिष्ट महत्त्व है। ऐसा भी समय था जब दबाव तथा हित समूहों को अनैतिक माना जाता था एवं हेय दृष्टि से देखा जाता था। फ्रेडरिक ने लिखा है कि "क्या कूड़ा ढोने वाले और राजनीतिशास्त्र के गंभीर छात्र सभी इन दबाव समूहों को घटिया व तुच्छ दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी परमात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़ें कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी। "लॉबी" शब्दों को हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसे धोखा, भ्रष्टाचार, बुराई आदि का प्रतीक माना जाता था। किन्तु आधुनिक काल में दबाव तथा हित समूहों को लोकतन्त्र का पथपोषक एंव सहयोगी माना जाने लगा है। विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्था में इन समूहों का महत्त्व और योगदान इतना अधिक बढ़ गया है कि इन्हें न केवल एक आवश्यक बुराई माना जाता है अपितु राजनीतिक क्रियाशीलता एवं सार्वजतिक नीतियों के प्रभावशाली क्रियान्वयन के लिए स्वास्थ्यजनक तत्त्व भी स्वीकार किया जाता है। राज-व्यवस्था में दबाव तथा हित समूहों का अभ्युदय एवं उन्नयन कोई नूतन तथ्य नहीं है। सदैव ही सब प्रकार के समाज एवं शासन में दबाव समूह विद्यमान रहे हैं। वर्त्तमान में दबाव समूहों के बारे में नवोदित तत्त्व बस यही है कि वे राजनीति में एक संस्था के रूप में कार्यरत हैं।

25.2 विशेषतायें

प्रो0 मायरन बीनर की रचना "पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी" भारत में दबाव राजनीतिक का विशलेषण करने वाली प्रथम वैज्ञानिक रचना है। वीनर के बाद स्टेनली कोचनीक का ग्रन्थ "बिजनेस एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया" भारतीय राजनीति में व्यावसायिक दबाव समूहों की भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करता है। वीनर तथा कोचनीक के निष्कर्षों के अनुसार भारत में दबाव व हित समूहों की निम्नलिखित निराली विशेषताएँ हैं:

(1) भारतीय राजनीति में परम्परावादी दबाव समूह जैसे जाति, समुदाय, धर्म और प्रादेशिक गुट निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। अधिकांश राजनीतिक दल जाति और समुदाय के आधार पर ही अपने अनुयायियों को संगठित करते हैं। जातीय समुदाय को आज भी भारत में बेताज का सरताज कहा जाता है।

(2) अधिकांश सामुदायिक दबाव समूहों पर राजनीतिक दलों का नियन्त्रण है। उनका नेतृत्त्व राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथों में है और उन्हें दल के पीछे दलीय सत्ता कहा जा सकता है। किन्तु यह भी एक विचित्र सत्य है कि प्रमुख व्यावसायिक हित समूह दलीय नियन्त्रण से स्वायत्त है।

(3) अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए कतिपय राजनीतिक दलों ने-अर्द्ध-सैनिक स्वरूप वाले गुप्त संगठनों का भी निर्माण किया है।

(4) स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद सार्वजनिक नीति के निर्माण के दबाव समूहों की सीमित भूमिका द्रष्टव्य है। इसके दो प्रकार थे- प्रथम, केन्द्र और राज्यों में शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्त्व था और वित्तीय सरकार पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था। जैसे जैसे सशक्त नेतृत्त्व का ह्रास होता गया और कांग्रेस का एकाधिकार टूटता गया वैसे वैसे राजनीति में दबाव गुटों का प्रभाव भी बढ़ता गया। प्रारंभ में दबाव गुटों की नकारात्मक भूमिका रही। वे इस बात पर बल देते रहे कि सरकार राष्ट्रीयकरण न करे और भूमि पर कर में अभिवृद्धि न करे। किन्तु, वर्त्तमान में अनेक दबाव गुट सकारात्मक रूप से अपने हितों को

प्रभावित करने वाली नीतियों के निर्माण में सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, मार्च 1947 में सरकार की गेहूँ नीति के निर्माण में अनाज व्यापारियों के महासंघ ने सकारात्मक भूमिका अदा की।

(5) विगत कुछ वर्षों से केन्द्रीय सरकार की नीतियों पर भारतीय संघ के राज्यों का भी प्रभाव पड़ने लगे हैं और राज्य संगठित दबाव डालने का प्रयास करने लगे हैं। राज्य लॉबी इन के लिए अधिकारी रखते हैं जिससे वे संसद सदस्यों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। संविधान के अनुच्छेद 262 तथा 263 के अन्तर्गत केन्द्रीय संसद को अन्तर्राज्यीय नदी पानी विवाद तथा सीमा विवाद हल करने की शक्ति प्राप्त है और कई राज्यों के बीच ऐसे उग्रतर विवाद उलझे पड़े हैं। अतः दबाव और लॉबीइंग की राजनीति द्वारा वे अपना हित वर्धन करने में लगे हैं। कावेरी जल विवाद पर बंगारप्पा (कर्नाटक) तथा जयललिता (तमिलनाडु) की भूमिका इसका ताजा उदाहरण है। केन्द्र पर दबाव डालने के लिए दोनों राज्यों में बन्द आयोजित किये गये जो राज्य सरकारों द्वारा प्रेरित थे।

(6) जब राज्यों में संविद और गैर कांग्रेसी सरकारें कार्यरत थीं तो उन्होंने अपनी मांगों के समर्थन में केन्द्रीय सरकार के विरोध में दबाव गुटों को प्रेरित किया। ऐसी मांगें जैसे अधिक विश्वविद्यालय, इस्पात कारखाने की स्थापना, तेल शोधन कारखाने की स्थापना, सार्वजनिक उद्यम की स्थापना आदि के लिए जब कभी राज्यों में आन्दोलन हुए तो गैर कांग्रेसी सरकारों ने आन्दोलनकारियों के प्रति सहानुभूति का रवैया अपनाया।

(7) राजनीतिक दलों में विद्यमान संस्थागत दबाव समूह ने दलीय व्यवस्था को ही डांवाडोल करने की चेष्टा की है। सत्ताधारी और विपक्षी दलों में कार्यरत गुटों ने बहुमत सरकार की कार्य प्रणाली को ही चुनौती दी है।

(8) विदेशी सहायता और विदेशी तकनीशियनों पर निर्भर होने के कारण विदेशी लॉबी भी हमारी नीतियों को प्रभावित करने के लिए दबाव डालती हैं। बोफोर्स तोप सौदा इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(9) समुदायात्मक और प्रदर्शनकारी दबाव समूह हिंसा, जन आन्दोलन, हड़ताल, अनशन और सत्याग्रह जैसे, अवैधानिक साधनों का प्रयोग करते नहीं हिचकिचाते।

(10) भारत में दबाव समूह मुख्यतया प्रशसकों को प्रभावित करने में लगे रहते हैं, न कि नीति निर्माण में गुटीय नेताओं का शायद यह विश्वास है कि महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और आर्थिक कार्यक्रम, यहां तक कि रचनात्मक संस्थाओं और कला एवं विज्ञान के ही विकास और उन्नयन का कार्यभार नौकरशाही के हाथों में है।

(11) भारत में आम धारणा दबाव समूहों की कार्य पद्धति के प्रतिकूल है। यह अच्छा नहीं माना जाता है कि हित समूह नीति निर्माताओं का मार्ग दर्शन करें। ऐसा भी माना जाता है कि यदि एक बार सरकार दबाव गुटों के आगे झुक जाती है तो फिर कोई भी निर्णय सार्वजनिक हित में नहीं लिया जा सकता।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारत में असमुदायात्मक दबाव गुट सर्वाधिक प्रभावशाली है और उनमें भी "जाति" का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उसके बाद संस्थानात्मक दबाव समूहों ने राजनीति को प्रभावित किया है। सामुदायिक दबाव समूहों में केवल "फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री" को ही आधुनिक दबाव समूह माना जा सकता है। भारतीय दबाव गुटों के स्वरूप से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि परम्परावादी समाज में आधुनिक दबाव समूह विकसित नहीं हो सके। व्यावसायिक हित समूह राजनीतिक दलों से संबद्ध नहीं हैं और उनकी तुलना पश्चिमी देशों में पाये जाने वाले दबाव गुटों से की जा सकती है। भारत में परम्परावादी दबाव समूह अपने हितों की अभिव्यक्ति के लिए चुनाव और राजनीतिक दलों का प्रयोग करते हैं, जबकि आधुनिक दबाव समूह मन्त्रिमण्डल और नौकरशाही को अपनी नवीनतम शोध से प्रभावित करते हैं। यदा कद प्रदर्शनकारी दबाव समूह भी सक्रिय हो जाते हैं। ऐसे गुट कभी कभी राजव्यवस्था के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न

कर देते हैं।

25.2.1 दबाव समूह का जन्म

एशिया की राजनीति के तीन अध्येताओं (कहिन, पे, पार्क एवं टिंकर) का यह निष्कर्ष भारत पर भी लागू होता है कि "पश्चिमी देशों की राजनीतिक प्रक्रिया में हित समूहों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है जबकि गैर पश्चिमी देशों में ऐसा नहीं हुआ है। भारत में अमरीका की भांति दबाव समूह विकसित नहीं हो पाये हैं यद्यपि कतिपय व्यावसायिक संगठन दबाव समूहों के रूप में सक्रिय अवश्य हैं। किन्तु, अन्य समुदायों के दबाव समूह मध्यवर्गीय नेतृत्त्व के कारण सक्रिय रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णयों को आधुनिक ढंग से प्रभावित नहीं कर पा रहे हैं। आर्थिक विपन्नता के कारण दबाव समूहों की मांग तथा शासकीय सामर्थ्य की वृद्धि जनता को प्राप्त विशेषाधिकारों एवं आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में नियोजित कार्यक्रमों के विस्तार के कारण भारत की राजनीतिक संरचना में संगठित दबाव व हित समूहों का विस्तार होता जा रहा है।

25.2.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्वाधीनता से पूर्व अनेक हित समूह भारतीय राजनीति में क्रियाशील रहे हैं। ब्रह्म समाज, धर्मसभा, तरुण बंगाल ग्रुप, सत्यशोधक समाज, ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन इत्यादि हित समूह समाज सुधार के रूप में कार्यरत थे। सन 1885 में भारतमीय राष्ट्रीय कांग्रेस की तथा 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। आमदण्ड तथा कोलोम का मत है कि दक्षिण एशिया के प्रारम्भिक आधुनिक समुदाय यथार्थ में हित की अभिवृद्धि करना था और इसलिए इन्हें प्रारम्भिक हित समूह कहा जा सकता है। जैसा कि एक इतिहासकार ने लिखा है, इनका ध्येय प्रचलित वैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत शासन को प्रभावित करना मात्र ही था। बाद में कांग्रेस एक राष्ट्रीय आन्दोलन में परिवर्तित हो गयी। हित समूह से राष्ट्रीय आन्दोलन में परिवर्तन की इस घटना ने भारती राजनीति में उदित होने वाले दबाव समूह के स्वरूप और ढांचे को अत्यधिक प्रभावित किया है। कांग्रेस को एक जन आन्दोलन के रूप में संगठित करने के ध्येय से हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने कृषक संघों, श्रमिक संघों, छात्र समुदायों आदि का निर्माण किया। अतः यह कहना उचित होगा कि स्वाधीनता से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा संगठन था जिससे भांति भांति के हित समुदाय संगठित होकर अपने हितों की अभिवृद्धि करते थे। मुस्लिम समाज के हितों की अभिवृद्धि के लिए मुस्लिम लीग भी इस काल में काफी सक्रिय रही है। मुस्लिम लीग के प्रभाव कों सन्तुलित करने के लिए ही हिन्दू महासभा की स्थापना की गयी थी।

25.2.3 दबाव समूह के प्रकार

भारत में कई प्रकार के दबाव समूह हैं। यह समूह देश की सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रो0 मोरिस जोन्स के निष्कर्षो के अनुसार यदि भारतीय शासन व्यवस्था को सांगोपांग समझना है तो गैर सरकारी एवं अज्ञात संगठनों की गतिविधियों का अध्ययन करना उपयोगी एवं अपरिहार्य है। मोरिस जोन्स ने अपनी रचना "दिं गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया" में भारतीय राज व्यवस्था की तीन भाषाएं या प्रतिरूप व्यक्त किये हैं। प्रथम और तृतीय भाषा का संबंध दबाव समूहों से ही है। वे द्वितीय भाषा का प्रतिरूप आधुनिक को प्रथा तथा तृतीय प्रतिरूप परम्परावादी एवं संतों की भाषा से प्रभावित मानते हैं।

भारत में क्रियाशील दबाव समूहों को आल्मोण्ड तथा पॉवेल के आधार पर चार समूहों में विभाजित किया जा सकता है :

1. संस्थानात्मक दबाव समूह
2. समुदायात्मक दबाव समूह

3. असमुदायात्मक समूह
4. प्रदर्शनात्मक दबाव समूह

भारत में दबाव समूह

संस्थानात्मक दबाव समूह	समुदायात्मक दबाव समूह	असमुदायात्मक दबाव समूह	प्रदर्शनात्मक दबाव समूह
1. कांग्रेस कार्य समिति	1. श्रमिक संघ	1. साम्प्रदायिक तथा धार्मिक समुदाय	1. जम्मू एण्ड काश्मीर लिबरेशन फ्रंट
2. कांग्रेस संसदीय बोर्ड	2. व्यावसायिक संघ	2. जातिगत समुदाय	2. दल खालसा
3. मुख्यमन्त्री क्लब	3. कृषक समुदाय	3. भाषा समुदाय	3. खालिस्तान कमांडो फोर्स
4. केन्द्रीय चुनाव समिति	4. छात्र समुदाय	4. गांधीवादी संघ	4. उल्फा
5. नौकरशाही	5. कर्मचारी संघ	5. युवा तर्क	
6. सेना	6. साम्प्रदायिक संघ	6. सिण्डीकेट	

1. भारतीय राजनीति में संस्थानात्मक दबाव समूह : संस्थानात्मक दबाव समूह राजनीति दलों, विधानमण्डलों, सेना, नौकरशाही इत्यादि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक संगठन होते हैं। ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न संस्थानों की छत्रछाया में पेषित होते हैं। यह अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत जैसे विकासोन्मुख देश में कई कारणों से संस्थानात्मक दबाव समूह अत्यधिक प्रभावशाली शक्ति के रूप में कार्यरत रहते हैं। इनके अत्याधिक शक्तिशाली होने के कई कारण हैं : प्रथम, इनके पास संगठन का सुदृढ़ आधार होता है। द्वितीय, समुदायात्मक दबाव समूह न तो प्रभावशाली होतें हैं और न उनकी अधिक संख्या होती है। तृतीय, संस्थानात्मक दबाव समूह निर्णय प्रक्रिया के अभिन्न अंग होते हैं और चतुर्थ, ये समाज में अन्य हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

2. भारतीय राजनीति में सामुदायिक दबाव समूह : समुदायात्मक दबाव समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत संघ होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्त्ति करना होता है। ये अपने आधुनिक परिवेश में भारतीय राजनीति में सक्रिय हैं। इनमें प्रमुख हैं: व्यावसायिक संगठन, कृषक संगठन इत्यादि।

व्यावसायिक संगठनों में आजकल फेडरेशन ऑफ इण्डिया, चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री अत्यन्त आधुनिक और प्रभावशाली दबाव समूह माना जाता है। यह लगभग एक लाख से भी ज्यादा छोटी बड़ी व्यावसायिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। विभिन्न तरीकों से फेडरेशन व्यावसायिक दृष्टिकोण और मांगों को सरकार के सम्मुख रखता है। फेडरेशन को प्रतिवर्ष प्रधानमन्त्री द्वारा उद्‌बोधित किया जाता है। अन्य मन्त्रीगण जैसे वित्तमन्त्री और वाणिज्यमन्त्री फेडरेशन की वार्षिक बैठकों में भाग लेते हैं।

3. भारतीय राजनीति में असमुदायात्मक दबाव समूह : असमुदायात्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते हैं। इनके संगठित संघ नहीं होते और इन परम्परावादी दबाव समूह में साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय, गांधीवादी समुदाय, भाषागत समुदाय, सिण्डकेट और युवा तुर्क प्रमुख हैं। साम्प्रदायिक आधार पर गठित समुदायों में मुस्लिम मजलिस, राष्ट्रय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी, जमायत-ए-हिन्द, जमायत-ए-इस्लाम इत्यादि प्रमुख हैं।

4. भारतीय राजनीति में प्रदर्शकारी दबाव समूह : प्रदर्शनकारी दबाव समूह अनेक विकासोन्मुख राष्ट्रों की राज व्यवस्था की विशेषता है और भारतीय राजनीति में इनका एकदम नवागत तथ्य नहीं कहा जा सकता। प्रदर्शनकारी गु

वे हैं जो अपनी मांगों को लेकर अवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रामक रवैया अपना लेते हैं। प्रदर्शनकारी विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही कई प्रकार के हैं। जैसे : जनसभाएं, गली कूची बैठक, पद यात्रा, रैली, विरोध दिवस मनाना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुंचाना, अग्निदाह, आवागमन अवरुद्ध करना, घेरना आदि। इनके द्वारा संगठित गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते हैं, अपितु सरकार के निवेश तथा निर्गत ढांचे को प्रभावित करते हुए नियम निर्माण, नियम प्रयुक्त एवं नियम अधिनिर्णयन सरकार पर दबाव डालते हैं।

25.2.4 दबाव समूह का महत्त्व

दबाव समूह का महत्त्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। अधिकांश देशों के संविधान इस बात को स्वीकार करते हैं कि वहाँ पर इस प्रकार के समूहों के विकास के लिए उपयुंक्त सुविधाएँ प्रदान की जायें। ये समूह प्रशासन को जन-इच्छा के अनुकूल बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबाव समूह की उपयोगिता तथा महत्त्व के गमुख कारण निम्नवत् हैं :

1. जनतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए दबाव समूह : दबाव समूहों को लोकतन्त्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके।

2. शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह : प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सूचनाएँ पर्याप्त रूप से होनी चाहिए।

3. शासन को प्रभावित करने वाले संगठन के रूप में दबाव समूह : आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिनके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सकें।

4. सरकार की निरंकुशता को सीमित करना : प्रत्येक शासन व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं।

5. समाज और शासन में संतुलन स्थापित करना : दबाव समूहों के अस्तित्व का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच संतुलन सा बना रहता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशाली सत्ता उदित नहीं हो पाती है।

6. व्यक्ति और सरकार में मध्य संचार के साधन : दबाव समूह लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं।

7. विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल का कार्य : दबाव समूह विधिनिर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं।

वस्तुत: दबाव समूह लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का दूसरा नाम है। निरंकुश तन्त्र में भी इनका अभाव नहीं होता। भारत में दबाव समूहों के उदभव के प्रमुख कारण हैं- लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त, आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप की नीतियों और व्यक्तिवाद से समाजवाद की तरफ बढ़ता हुआ झुकाव। प्रो0 हरमन फाइनर का कथन है कि जहाँ सिद्धान्त और संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होंगे वहाँ दबाव समूह पनपेंगे। जहाँ दबाव समूह शक्तिशाली होंगे वहाँ राजनीतिक दल कमजोरी होंगे और जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे वहाँ दबाव समूह दबा दिये जायेंगे। परन्तु राजनीतिक दलों की सुदृढ़ता और कमजोर का संबंध दबाव समूहों की शक्ति और दुर्बलता से नहीं जोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में संगठन और अनुशासन की दृष्टि से राजनीतिक दल काफ़ी मजबूत हैं किन्तु दबाव समूह भी किसी प्रकार दुर्बल नहीं है। भारत और फ्रांस में संगठन और सिद्धान्त की दृष्टि से राजनीतिक दल कमजोर

हैं, किन्तु दबाव समूह को भी किंग मेकर्स के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी है। भारत में तो राजनीतिक दल विभिन्न दबाव गुटों के ही संयुक्त गठजोड़ हैं जो दल के ीीतर दलीय दृष्टिकोण को प्रभावित करते रहते हैं। आल्मोण्ड तथा पॉवेल लिखते हैं- भारत तथा मेक्सिको जैसे देशों में जहाँ एक ही दल राज-व्यवस्था को चलाता है वहाँ यह दल विभिन्न हितों की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है।

25.2.5 आलोचना

विगत वर्षा में दबाव की राजनीति आलोचना और वाद विवाद का विषय रही है। आलोचकों ने यहाँ तक कह डाला है कि ये गुट नवजात भारतीय लोकतन्त्र पर खतरे की काली घटाओं के रूप में मंडरा रहे हैं। ये सदैव अपने घटिया स्वार्थों की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याण को तुच्छ निगाह से देखते हैं। इन दबाव गुटों ने हमारे सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अनेक घृणित उपायों को आश्रय दे रखा है। विदेशी लॉबीज हमारी सुरक्षा संबंधी गुप्त दस्तावेजों तक को प्राप्त करने में सफल हो गयी हैं।

भारत में दबाव गुटों की कार्य शैली को गुप्त रखा जाता है और जन सामान्य को उसके बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। वे गुप्त ढंग से अधिकारियों और नीति-निर्माताओं से परामर्श करते हैं। विधानांग के सदस्यों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे खुले रूप से यह प्रकट करें कि उनका संबंध किन किन गुटों से है और उन्हें उनसे किस प्रकार का लाभ मिलता है। कभी कभी दबाव गुट रिश्वत देकर भी प्रशासकों को अपने स्वार्थों के अनुकूल बनाने में नहीं हिचकिचाते। दबाव गुटों की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि वे सही मांग प्रस्तुत कर रहे हैं अपितु इस तथ्य पर निर्भर करती है कि कितना विशाल और वित्तीय साधनों से सम्पन्न हैं। दबाव गुट द्वारा सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु अधिकांश में हिंसात्मक कार्यवाहियां अचानक नहीं हो जाती अपितु संगठित होकर योजनाबद्ध होती हैं। हिंसा और जन आन्दोलन से अराजकता उत्पन्न होती है और ऐसी व्यवस्था राज व्यवस्था के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न कर देती है। सफेदपोश सरकारी कर्मचारियों के संगठनों के लिए तो हड़ताल, प्रदर्शन आयोजित करना एक फैशन हो गया है।

सरकारी कर्मचारियों द्वारा अचानक कार्य बन्द कर देने से प्रशासन ठप्प हो जाता है और आम जनता को काफी असुविधा होती है। कभी कभी तो दबाव गुट ऐसी दायित्वहीन मांगें भी प्रस्तुत करते हैं जिनको पूरा करना सरकार के लिए संभव नहीं होता।

25.2.6 निष्कर्ष

दबाव तथा हित समूहों से हम अपेक्षा करते हैं कि वे सार्वजनिक हित की अवधारणा को स्वीकार करते हुए सार्वजनिक जीवन की अभिवृद्धि तथा उन्नति के लिए अपने आपको प्रस्तुत करेंगे। विदेशी दबाव का सामना करने के लिए राष्ट्रीय इच्छा शक्ति एवं राष्ट्रीय भावना विकसित करना अपरिहार्य है। अभी तक हित समूह तथा सार्वजनिक हित के मध्य सन्तुलन स्थापित करना एक समस्या बनी हुई है।

25.3 सारांश

प्रत्येक देशमें हित समूह होते हैं। जब यह सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीति में सक्रिय हो जाते हैं तो यह दबाव समूह बन जाते हैं। इनका राजनीतिक प्रक्रिया में विशिष्ट महत्त्व है, और राजनीति में संस्था के रूप में कार्यरत है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सार्वजनिक नीति के निर्माण में दबाव समूहों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विगत कुछ वर्षों में संगठित दबाव डालने का प्रयास कर रही है। भारत में दबाव समूह मुख्यतः प्रशासकों को प्रभावित करने में लगे हैं। भारत में आम धारणा दबाव समूह की कार्य पद्धति के प्रतिकूल है। स्वाधीनता के पूर्व हित समूह भारतीय राजनीति में क्रियाशील रहे हैं। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा 1906 में मुस्लिम लीग संस्था की स्थापना

हुआ। भारत में चार प्रकार के दबाव समूह पाये जाते हैं:

1. संस्थानात्मक दबाव समूह
2. समुदायात्मक दबाव समूह
3. असमुदायात्मक दबाव समूह
4. प्रदर्शनात्मक दबाव समूह

विगत वर्षों में दबाव की राजनीति आलोचना का विषय रही है। भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अनेक घृणित उपायों को आश्रय दे रखा है। इसमें सत्य का अंश अवश्य है परन्तु लोकतान्त्रिक सरकार में दबाव समूह से छुटकारा पाना भी संभव नहीं है। और अन्ततः यह सार्वजनिक हित की अवधारणा को स्थापित करता है।

25.4 कुंजी शब्द

1. लॉबीज
2. अज्ञात साम्राज्य
3. सार्वजनिक हित
4. निरंकुशता

25.5 अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. दबाव समूह का आलोचनात्मक वितरण करें।
   उत्तर- (25.1-25.2.6)
2. दबाव समूह क्या है, इसकी प्रकृति और कार्यवाही की चर्चा करें।
   उत्तर- (25.0-25.2.4)
3. दबाव समूह की विशेषतायें एवं उसकी भूमिका पर प्रकाश डालें।
   उत्तर- (25.2-25.2.6)

(ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

4. राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में अन्तर स्पष्ट करें।
   उत्तर- (25.2.2)
5. दबाव समूह का अर्थ स्पष्ट करें।
   उत्तर- (25.0)

25.6 अध्ययन हेतु पुस्तक

1. भारत का संविधान : पायली
2. भारतीय राज-व्यवस्था : डॉ0 पुखराज जैन, डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया
3. संविधान की आत्मा : सुभाष कश्यप

❖❖❖